नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 128 • वर्ष 11 अंक 2
मार्च 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) के शताब्दी वर्ष के अवसर पर

स्त्री मुक्ति के संघर्ष को सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के व्यापक संघर्ष से जोड़ना होगा!

आधी आबादी को शामिल किये बिना मानव मुक्ति की लड़ाई सफल नहीं हो सकती!!

सम्पादक मण्डल

इस 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाये जाने के 99 वर्ष पूरे हो गये और इसके शताब्दी वर्ष की शुरुआत हो गयी। पूरी दुनिया में इस दिन को मेहनतकश आम स्त्रियों की मुक्ति के प्रतीक दिवस के रूप में मनाया जाता है। यह दिन शोषण, अत्याचार, पुरुष वर्चस्ववाद के तमाम रूपों से मुक्ति और जीवन के हर पहलू में पूर्ण समानता के लिए स्त्रियों के संघर्ष का प्रतीक है।

शताब्दी वर्ष की शुरुआत का यह मौका पिछली एक सदी की उपलब्धियों को याद करने, आज़ादी की राह की बाधाओं को पहचानने और आगे की चुनौतियों को समझकर नये संकल्प लेने का मौका है। यह मौका ऐसे समय पर आया है जब दुनियाभर की मेहनतकश महिलाएँ एक साथ कई तरह के हमलों का सामना कर रही हैं। पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के दौर में हर देश में उदारीकरण-निजीकरण की जो नीतियाँ लागू हुई हैं उन्होंने मेहनतकश अवाम को उजरती गुलामी की ज़ंजीरों में और भी बुरी तरह जकड़ दिया है। और पूँजी के सबसे निकृष्ट कोटि के गुलामों के रूप में स्त्रियों पर इन नीतियों का कहर सबसे बुरे रूप में टूटा है। स्त्रियों के सस्ते श्रम को निचोड़ने के लिए देशी-विदेशी कम्पनियों में होड़ लगी हुई है। आर्थिक शोषण के साथ ही उन्हें तमाम तरह के अपमान, अत्याचारों, दमन-उत्पीड़न और अपराधों का भी शिकार होना पड़ता है। दूसरी ओर, स्त्रियों की आज़ादी और बराबरी की बढ़ती चाहत को कुचलने के लिए हर तरह की रूढ़िवादी, कट्टरपन्थी शक्तियों ने भी स्त्रियों पर हमला बोल दिया है। स्त्री आन्दोलन के भीतर भी तरह-तरह के भटकावग्रस्त विचारों का बोलबाला है।

पिछले सौ वर्षों में दुनिया भर में स्त्रियाँ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही हैं और पूँजी की लूट और पितृसत्ता के उत्पीड़न के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाती रही हैं। दुनिया के सभी देशों में स्त्रियों ने मेहनतकश वर्गों के आन्दोलनों, किसानों के संघर्षों और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष किया है और बेमिसाल कुर्बानियाँ दी हैं। जिन देशों में जनता ने क्रान्ति करके लुटेरी व्यवस्था को उखाड़ फेंका वहाँ भी आधी आबादी ने क्रान्तिकारी युद्धों में और उसके बाद नये समाज के निर्माण में बराबरी से शिरकत की है। अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस की शुरुआत ही मज़दूर वर्ग के संघर्ष से हुई थी। 1857 में 8 मार्च को अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर में महिला कपड़ा मज़दूरों ने बेहतर मज़दूरी और कार्य स्थितियों के लिए विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया जिसका सरकार ने बुरी तरह दमन किया। लेकिन इन महिलाओं ने दो वर्ष बाद अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए अपनी पहली यूनियन बनायी। इसके 51 वर्ष बाद 8 मार्च के दिन ही न्यूयॉर्क में करीब 20,000 महिला श्रमिकों ने बेहतर कार्य स्थितियों, वोट देने के अधिकार और बेहतर मज़दूरी के लिए प्रदर्शन किया। दो वर्ष बाद 1910 में कोपेनहेगेन में दुनिया भर की मजदूर पार्टियों के अन्तरराष्ट्रीय मंच ने अन्तरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन का आयोजन किया। इसी सम्मेलन में जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी की क्रान्तिकारी नेता **क्लारा ज़ेटकिन** ने यह प्रस्ताव रखा कि 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय महिला

(पेज 9 पर जारी)

मेट्रो मज़दूरों के अधिकारों पर मेट्रो प्रशासन का नया फ़ासीवादी हमला

बिगुल संवाददाता

कर्मचारियों को बुनियादी मानवाधिकारों-जनतान्त्रिक अधिकारों से वंचित करता डीएमआरसी का नया सर्कुलर

मीडिया से लेकर सरकार तक दिल्ली मेट्रो को दिल्ली की शान बताने का कोई मौक़ा नहीं चूकते। मेट्रो के प्रशासन को एक उदाहरण के रूप में पेश किया जाता है। दिल्ली मेट्रो की साफ़-सफ़ाई और उसके चाक-चौबन्द इन्तज़ाम को देखकर मध्यवर्ग के लोग फूले नहीं समाते हैं। लेकिन मेट्रो की चमक-दमक और जगमगाहट के पीछे मेट्रो में काम करने वाले मज़दूरों के जीवन के घने अँधेरे के बारे में कोई चर्चा नहीं होती है। पूरा दिल्ली मेट्रो मज़दूरों के ख़ून-पसीने और हड्डियों की नींव पर खड़ा किया गया है और इसके बदले में मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक छुट्टी, पी.एफ़, ई.एस.आई. और यूनियन बनाने के अधिकार जैसे बुनियादी अधिकारों से भी वंचित रखा गया है। श्रम क़ानूनों की खुलेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं, हालाँकि मेट्रो स्टेशनों और डिपो के बाहर मेट्रो प्रशासन ने एक बोर्ड ज़रूर लटका दिया है कि 'यहाँ सभी श्रम क़ानून लागू किये जाते हैं'। चाहे मेट्रो में काम करने वाले सफ़ाई मज़दूर हों या फिर निर्माण मज़दूर, सभी से जानवरों की तरह हाड़तोड़ काम लिया जाता है और उन्हें कई बार साप्ताहिक छुट्टी तक नहीं दी जाती है। पी.एफ़ या ई.एस.आई. की सुविधा तो बहुत दूर की बात है। ऊपर से यदि कोई मज़दूर इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाता है तो उसे तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता है या फिर उसे निकालकर बाहर ही फेंक दिया जाता है।

इस नंगे शोषण के ख़िलाफ़ जब मेट्रो के कर्मचारियों के बीच से विरोध की आवाज़ उठनी शुरू हुई है तो मेट्रो का प्रशासन उनकी जुबान बन्द करने पर आमादा हो गया है। गत 4 फ़रवरी को मेट्रो प्रशासन ने अपने कर्मचारियों के नाम **'कोड ऑफ़ वैल्यू एण्ड एथिक्स'** नाम से एक सर्कुलर जारी करके उन्हें उनके सभी बुनियादी अधिकारों से वंचित कर दिया है। इस सर्कुलर में मज़दूरों व कर्मचारियों से स्पष्टत: कहा गया है कि वे किसी भी अन्य सरकारी विभाग में मेट्रो प्रशासन की शिकायत नहीं कर सकते हैं। वे मेट्रो में चल रहे किसी भी अन्याय या धाँधली के ख़िलाफ़ मीडिया को जानकारी नहीं दे सकते हैं। अपने साथ होने वाले किसी अन्याय के ख़िलाफ़ अदालत का दरवाज़ा खटखटाने पर भी मनाही है और अगर अदालत में जाना ही हो तो पहले डी.एम.आर.सी.

(पेज 8 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

मन्दी की मार मज़दूरों पर — पेज 3
राष्ट्रीय राजधानी में ग़रीबों के गुमशुदा बच्चों और पुलिस-प्रशासन के ग़रीब-विरोधी रवैये पर रिपोर्ट — पेज 4-5
भुखमरी की शिकार दुनिया की एक चौथाई आबादी भारत में — पेज 11
विश्व आर्थिक संकट — पेज 6-7
नताशा – एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता — पेज 10
मेहनतकश जनता का सच्चा लेखक – मक्सिम गोर्की — पेज 11
चुनाव : सोचने के लिए कुछ बातें — पेज 12
जनता की कार जनता पर सवार — पेज 12

आपस की बात

करोड़ों "स्लमडॉग" और मुट्ठीभर करोड़पति!

कई ऑस्कर अवार्ड जीतने वाली फ़िल्म 'स्लमडॉग मिलिनायर' को इलेक्ट्रानिक और प्रिण्ट मीडिया में मिले धुआँधार प्रचार की बदौलत दुनियाभर में इसकी चर्चा हो रही है। भारत में तथाकथित सेलिब्रिटी कलाकार और पत्रकार टेलीविज़न चैनलों पर इस बहस में उलझे हैं कि इसे भारतीय फ़िल्म माना जाये या नहीं और भारतीयों को इसका जश्न मनाना चाहिए या नहीं। यह फ़िल्म रोडपति से करोड़पति बनने की आम फ़ार्मुला छाप कहानी है जिसमें मुम्बई की एक झुग्गी में रहने वाला लड़का टीवी शो "कौन बनेगा करोड़पति" में 1 करोड़ रुपये जीत लेता है।

उम्मीद तो इस बात की थी कि इस फ़िल्म की सफलता शहरी भारत की झुग्गियों में रहने वाले करोड़ों लोगों की अमानवीय जीवन स्थितियों की ओर दुनिया का ध्यान खींचेगी और बहस का मुद्दा यह होगा कि इन स्थितियों को बेहतर कैसे बनाया जाये। लेकिन, जैसाकि अक्सर होता है, तथाकथित सेलिब्रिटी लोगों ने पूरे मुद्दे को हाइजैक करके भारतीय बनाम विदेशी फ़िल्म की बहस तक समेट दिया है।

मध्य वर्ग और उच्च मध्य वर्ग के बहुत से हिन्दुस्तानी, जिनके लिए इण्डिया अब भी शाइनिंग है, उन्हें यह फ़िल्म नागवार गुज़री क्योंकि यह भारत की छवि ख़राब करती है। हालाँकि इस बात में थोड़ी सच्चाई है कि पश्चिम में यह फ़िल्म इसलिए भी इतनी हिट हुई है क्योंकि विदेशियों के मन में भारत की इस छवि को ही पुख़्ता करती है कि यह गन्दगी, बीमारी और झुग्गियों से भरा तीसरी दुनिया का ग़रीब देश है। लेकिन यह भी सच है कि फ़िल्म भारत की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के वास्तविक जीवन स्तर को दर्शाती है और इस मामले में इसने कुछ भी बढ़ाचढ़ाकर नहीं दिखाया है। इसकी शूटिंग स्टूडियो के सेट में नहीं वास्तव में झुग्गी बस्ती में ही हुई है। इसने भारत के ऐसे पहलू को दिखाया है जिसे बॉलीवुड के बड़े बैनर वाले दिखाना पसन्द नहीं करते।

लेकिन झुग्गियों के जीवन की असली तस्वीर पेश करने के बावजूद यह फ़िल्म झुग्गी में रहने वालों की समस्याओं के बारे में नहीं है। इसके बजाय, यह झूठ के बारे में है कि यह व्यवस्था हरेक को इतना मौक़ा देती है कि एक झुग्गीवाला भी करोड़पति बनने की उम्मीद पाल सकता है। जैसे-जैसे फ़िल्म आगे बढ़ती है, सच्चाई से इसका नाता ख़त्म हो जाता है। सच तो यह है कि भारत में झुग्गियों का कोई निवासी सिर्फ़ अपराध की दुनिया में जाकर ही 1 करोड़ रुपये कमाने की बात सोच सकता है। अगर क़िस्मत से उसकी लॉटरी लग ही जाये, जैसाकि फ़िल्म में दिखाया गया है, तो भी इससे भारत की झुग्गियों में रहने वाले करोड़ों लोगों की ज़िन्दगी पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा जो अब भी इन्सान की तरह जीने के लिए ज़रूरी सुविधाओं से वंचित हैं। सच्चा क्लाइमेक्स तो यह होगा कि करोड़ों झुग्गीवासियों की ज़िन्दगी को मानवीय बनाने के लिए व्यवस्था में बदलाव किया जाये न कि करोड़पति बनने के झूठे सपने दिखाये जायें। कई मामलों में यह फ़िल्म उसी पूँजीवादी सोच को पेश करती है जो देश में करोड़पतियों की बढ़ती तादाद पर जश्न मनाती है लेकिन इस तथ्य की अनदेखी करती है कि करोड़ों लोग नर्क जैसे हालात में जी रहे हैं। आज के भारत की ही तरह, यह फ़िल्म भी इन्सान बनने के संघर्ष की प्रेरणा देने के बजाय करोड़पति बनने की झूठी आशा जगाती है। हम चाहें या न चाहें, सच तो यह है कि भारत करोड़ों "स्लमडॉग" और मुट्ठीभर करोड़पतियों का देश है।

– आनन्द सिंह
चेन्नई

कब तक ऐसे मरते रहेंगे

लुधियाना में ताजपुर रोड पर सेण्ट्रल जेल के सामने महावीर जैन कालोनी में ज़्यादातर कपड़ा रँगाई और पावरलूम की फ़ैक्ट्रियाँ चलती हैं। यहाँ ग्रोवर टैक्सटाइल नाम की फ़ैक्ट्री में भी पावरलूम चलता है। यहाँ पर लगभग 60 कारीगर काम करते हैं। पिछले 5-6 महीने से यह फ़ैक्ट्री यहाँ चल रही है। दूसरी पावरलूम फ़ैक्ट्रियों की तरह ही इसमें भी काम पीस रेट पर होता है। ताना बनाने से लेकर चैकिंग-पैकिंग तक का काम ठेके पर होता है।

दिवाली के कुछ दिन बाद इस फ़ैक्ट्री में एक ताना मास्टर ताना बनाने वाली मशीन में लिपट गया और उसके शरीर की कई हड्डियाँ टूट गयीं। कुछ देर बाद जब उसको ताने में से निकाला गया तो उसकी हालत बहुत ख़राब थी। मालिक ने जल्दी से उसे शृंगार सिनेमा के पास 'रतन' बच्चों के अस्पताल में दाख़िल करवा दिया। हफ़्ता भर वह ताना मास्टर मौत से लड़ता रहा लेकिन सही इलाज की कमी से आख़िरकार उसकी मौत हो गयी। इस हादसे की कोई ख़बर तक अख़बारों या टीवी पर नहीं आयी। उस समय जब ताना मास्टर का इलाज चल रहा था तब मालिक कारख़ाने में लगातार प्रचार कर रहा था कि हमारा तो बहुत ख़र्चा हो रहा है। एक घण्टे का 5,000 रुपये तक ख़र्च हो रहा है। इन सारी बातों से कारीगर मालिक को बहुत नेक समझ रहे थे। लेकिन इस बात का भाण्डा तब फूटा जब उस ताना मास्टर की हालत और बिगड़ गयी और अस्पताल से जवाब मिलने के बाद उसकी मौत हो गयी। इस फ़ैक्ट्री के कुछ कारीगरों से हमने ताना मास्टर के बारे में जानना चाहा तो सिर्फ़ इतना पता चला कि वह बिहार का था। तब भी कारीगर यह ही कह रहे थे कि "मालिक तो बहुत कुछ कर रहा है, इतना तो कोई मालिक अपने कारीगर के लिए नहीं करता।" कारीगरों की यह सोच बहुतेरे मज़दूरों की सोच है। क्योंकि वे यह नहीं जानते कि फ़ैक्ट्री स्थल पर अगर कोई हादसा होता है तो उसकी ज़िम्मेदारी मालिक की होती है। उस वर्कर का इलाज मालिक को करवाना होता है और अगर मौत हो जाये तो उचित मुआवज़ा देना होता है। यह मज़दूरों के उन अधिकारों में से एक है जो उन्होंने लड़कर हासिल किये थे। लेकिन मालिकों ने सभी छीन लिये हैं।

इस पूरी घटना में कुछ बातें हैं जो सोचने को मजबूर करती हैं कि अगर मालिक इतना ख़र्च कर ही रहा था और ईमानदारी से ताना मास्टर को बचाना चाहता था तो उसको डी.एम.सी., सी.एम.सी. या अपोलो जैसे बेहतर अस्पताल में क्यों नहीं ले जाया गया। बच्चों के अस्पताल में एक गम्भीर घायल आदमी का इलाज करवाना कहाँ तक जायज़ था। असल में मालिक चाहता था कि यह हादसा रोशनी में न आये। अगर आदमी मरता भी है तो कोई बवाल ना हो। वही हुआ भी। ताना मास्टर की मौत के बाद मालिक पर कोई असर नहीं पड़ा। उसका काम धड़ाधड़ चल रहा है। लेकिन उस दिवंगत मज़दूर के बच्चों की भूखों मरने की नौबत आ गयी है। ऐसे कुछ हादसे पहले भी इस फ़ैक्ट्री में हुए लेकिन हमेशा दबाये जाते रहे।

थोड़ा ताना बनाने वालों की हालत पर भी विचार कर लिया जाये। एक दिन में एक आदमी 1 से 3 तक ताने भर देता है। एक ताने का रेट 80-90 से शुरू होकर क्वालिटी के हिसाब से कम-ज़्यादा होता है। और सारा महीना काम भी नहीं मिलता। इसलिए जब भी काम मिलता है तो हर कोई यही चाहता है कि ज़्यादा से ज़्यादा काम कर ले और जल्दी-जल्दी करे। इसलिए कई ऐसे जुगाड़ भी किये जाते हैं कि मशीन रुके बिना लगातार चले। जिसके कारण आये दिन हादसे होते रहते हैं। ठेके का काम होने के कारण मालिक इस और ज़्यादा ध्यान भी नहीं देते हैं।

एक कारीगर ने बताया कि जब वह मुम्बई में था तो उस एक बार ताने वालों की हड़ताल हुई थी। तब मशीनों में सेफ़्टी का एक पुर्जा लगाया गया था जो लगभग 1500-2000 रुपये का होता है। इसके अलावा रेट भी बढ़ाया गया था। अभी लुधियाना में ऐसी सेफ़्टी का कोई इन्तज़ाम नहीं है।

असल मुद्दा तो यह है कि भर्ती ही मालिक की ओर से हो। महीने की आठ घण्टे की ड्यूटी की तनख़्वाह इतनी मिले कि बुनियादी ज़रूरतें पूरी हो सकें। इसके अलावा फ़ण्ड, बोनस, ईएसआई कार्ड, मकान का किराया, छुट्टियाँ, वर्दी, बूट आदि – वे सारे हक़ मिलें जो मज़दूरों, मालिकों और सरकार के बीच समझौता हुआ था। लेकिन यह आसान बात नहीं है। मालिकों के अपने संगठन और लूटने की रणनीति है। हमें भी अपने मज़दूर संगठन बनाने हैं और जान-समझकर आगे बढ़ना है।

– राजविन्दर

मज़दूरों के बारे में एक भोजपुरी गीत

मैं सुभाष यादव, सन्त कबीर नगर का रहने वाला हूँ। मैं लुधियाना में पावरलूम पर काम करता हूँ। बिगुल पेपर मैं बहुत दिनों से पढ़ रहा हूँ और इसका प्रचार भी करता हूँ। आप लोग मज़दूरों के बारे में बहुत अच्छा लिखते हैं। आप जैसा लिखते हैं वैसा ही होना चाहिए। मैं मज़दूरों के बारे में एक भोजपुरी गीत लिख रहा हूँ।

मजदुरवन क भइया केहुना
सुनवइया।
ये ही लोधियनवा क हव अइसन
मालिक।
मज़दूरी मँगले पर देई देल गाली।
मिली जुली के करा तु इनकर
सफइया।
मजदुरवन क भइया केहु ना
सुनवइया।
हमनी क रेट घटल छोल कबहु
ना बढ़ल।
हई महँगाई त हर साल बढ़ल।
कइसे होइह हमनी के लड़िकन
क पढ़इया।
मजदुरवन क भइया केहुना
सुनवइया।
लुम चलावत आ गइलिन बुढइया।
लगवा ना बाचल बा एकहु
रुपइया।
एक लोटा पानी ना केहु देवइया।
मजदुरवन क भइया केहूना
सुनइया।
ये ही मज़दूर कारखाना यूनियन
के लेवा बढ़ाई
इहत सबकर रेट बढ़ाई।
जेना बढ़ाई ओकर हो रह
पिटइया।
मजदुरवन क भइया केहु ना
सुनवइया।
ये ही बिगुल क ल कहना तु
मानी।
बिगुल के बढ़ावा बढ़े जैसे पानी।
ये ही में बाटे सबकर भलइया।
मजदुरवन क भइया केहुना
सुनवइया।

– सुभाष, लुधियाना

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर (कम्युनिस्टों) और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेड्यूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय	: जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फोन : 011-65976788
ईमेल	: bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)
3. जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001
4. जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

मज़दूरों पर मन्दी की मार : छँटनी, बेरोज़गारी का तेज़ होता सिलसिला

पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की अन्धी हवस में जिस आर्थिक संकट को पैदा करता है वह इस समय विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के रूप में समूचे संसार को अपने शिंकजे में जकड़ती जा रही है। मन्दी पूँजीवादी व्यवस्था में पहले से ही तबाह-बर्बाद मेहनतकश के जीवन को और अधिक नारकीय तथा असुरक्षित बनाती जा रही है। इस मन्दी ने भी यह दिखा दिया है कि पूँजीवादी जनतन्त्र का असली चरित्र क्या है? पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी यानी 'सरकार' पूँजीपतियों के लिए कितनी परेशान है यह इसी बात से जाना जा सकता है कि सरकार पूँजीवादी प्रतिष्ठानों को बचाने के लिए आम जनता से टैक्स के रूप में उगाहे गये धन को राहत पैकेज के रूप में देकर एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही है। जबकि मेहनतकशों का जीवन मन्दी के कारण बढ़ गये संकट के पहाड़ के बोझ से दबा जा रहा है। परन्तु सरकार को इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं है। दिल्ली के कुछ औद्योगिक क्षेत्रों के कुछ कारख़ानों की बानगी से भी पता चल जायेगा कि मन्दी ने मज़दूरों के जीवन को कितना कठिन बना दिया है।

कुण्डली, प्याऊ मनियारी औद्योगिक क्षेत्र

एस.एम. इण्टरनेशनल प्राइवेट लिमिटेड (फ़ैक्ट्री नं. 306) कुण्डली सोनीपत में 7 फ़रवरी तक 40 मज़दूरों की छँटनी हो गयी। इसमें विदेश के लिए कपड़े बनते हैं। छँटनी में हेल्पर, चेकर तथा टेलर तीनों हैं।

मन्दी के दबाव में ठेकेदार ने इस कम्पनी में यह नियम बना रखा है कि जब ऑर्डर रहता है तो वह कम्पनी के बाहर 'आवश्यकता है' का बोर्ड लगाकर मज़दूरों को रख लेता है और कम्पनी में काम ख़त्म होते ही मज़दूरों को बाहर निकाल देता है। मन्दी के कारण बेरोज़गार मज़दूर उसे हमेशा मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह मज़दूरों को 2,000 रुपये तनख़्वाह पर रखता है तो हिसाब 1,800 रुपये के हिसाब से करके थमा देता है।

इसी फ़ैक्ट्री में जो महिलाएँ पीस रेट पर कपड़ों पर वाश केयर लेबल और मेन लेबल लगाती थीं, उनका प्रति पीस रेट 25 पैसे से घटाकर 10 पैसा कर दिया गया। विरोध करने पर मालिक ने साफ़ कह दिया कि इतने पर करना है तो करो, नहीं तो जाओ। कपड़े की लाइन में और कहीं काम न मिलने के कारण मजबूरन उन्हें इसी रेट पर काम करना पड़ रहा है।

एल्ट्रो जीनियो प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) में कपड़े का काम होता है। इसमें क़रीब 35 लोगों की छँटनी हुई है। छँटनी उन हेल्परों की हुई है जिनका ईएसआई कार्ड आदि बन गया था। केवल उन हेल्परों को रखा है जिन्हें ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार मालिक ने ईएसआई कार्ड जैसी सुविधाओं से पल्ला झाड़ लिया।

डूना ओवरसीज़ प्राइवेट लिमिटेड (7 न. राई सोनीपत) में पैंट बनती हैं। इसमें 65 कारीगर पीस रेट पर तथा 10 हेल्पर काम कर रहे थे। हेल्परों को 1,800-2,000 रुपये मिलते थे। इधर काम कम होने के कारण कम्पनी का गोदाम ख़ाली रहने लगा, उधर हेल्परों ने वेतन बढ़ाने की बात की तो मालिक को बहाना मिल गया और उसने तुरन्त 7 हेल्परों को निकाल बाहर किया।

कम्पनी न. 343 (कुण्डली, सोनीपत) इसमें केबल बनता है। मन्दी के कारण पहले काम के घण्टे घटाकर 12 से 8 कर दिये गये। और अब काम न होने के कारण मज़दूरों से केवल लोडिंग का काम करवाया जा रहा है। इसमें 2,500 रुपये मिलते थे। अब तार के बहुत वज़नदार बण्डलों को ऊपर ले जाना, फिर नीचे ले आना यही काम रह गया है। ओवरटाइम न मिलने और बहुत कड़ी मेहनत के कारण मज़दूर ख़ुद ही हिसाब लेकर काम छोड़ देना चाहते हैं।

वाटिका प्राइवेट लिमिटेड (कुण्डली सोनीपत) में स्टील के बर्तन बनते हैं। इसमें 70 मज़दूर थे जिनमें से 25 महिलाएँ थीं। 29 लड़कों तथा 21 लड़कियों की छँटनी कर दी गयी है। इनमें सात वे लड़के भी हैं जिनका काम के दौरान हाथ कट गया था। क़ानूनी लफ़ड़ों से बचने के लिए मालिक ने उन्हें काम दे रखा था। कुछ समय बाद अब मालिक ने उनसे कहा कि 7,000-7,000 रुपये लेकर वे काम छोड़ दें तो मज़दूरों के मना करने पर उन्हें काम से निकाल दिया गया और अब कह रहा है कि वह कम्पनी बन्द करने वाला है।

पंजाब स्टील प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) इसमें 60 लोगों की छँटनी हुई है जिसमें अधिकतर महिला मज़दूर हैं। इन्हें 8 घण्टे का 2,400 वेतन मिलता था। 2 घण्टे ओवरटाइम लगता था। इस समय ओवरटाइम नहीं लग रहा है।

धर्म इण्डस्ट्री प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) में स्टील के बर्तन बनते हैं। इसमें 90 लोगों की छँटनी हुई है। आधे से अधिक महिला मज़दूर हैं। इस समय न तो ओवर- टाइम लग रहा है और न ही नाइट।

विम पैक प्राइवेट लिमिटेड (कुण्डली, सोनीपत) में गत्ता बनता है। इसमें 7 लड़कों की छँटनी हुई है। इसमें 8 घण्टे का 2,200 रुपया मिलता है। इसमें न तो ओवरटाइम लग रहा है और न ही नाइट।

सिडिप इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड (316 न.) (कुण्डली, सोनीपत) में स्टील की आलमारी बनती है। इसमें 20 लड़कों की छँटनी हुई है। इस समय ओवरटाइम नहीं लग रहा है।

रिलायंस फ्रेश प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) इसमें फ़ल- सब्ज़ियों को पैक करके देश के अलग-अलग हिस्सों तथा बाहर भेजा जाता है। इसमें 46 मज़दूरों की छँटनी हुई थी। काम शुरू होने पर सिर्फ़ 30 मज़दूरों को ही फिर से रखा गया। पहले ओवरटाइम लगता था, अब नहीं लग रहा है।

स्वास प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) में 7 महिला मज़दूरों की छँटनी हुई है। इसमें मसाले और दवाइयाँ बनती हैं। प्लाईवुड इण्डस्ट्री प्राइवेट लिमिटेड (प्याऊ मनियारी) में 7 मज़दूरों की छँटनी हुई है। गेल इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड में 5 मज़दूरों की छँटनी हुई है।

फ़ेम इण्डस्ट्री प्राइवेट लिमिटेड में हेलोजन गाड़ियों के हेडलाइट, बल्ब इत्यादि बनते हैं। इसमें 10 हेल्परों की छँटनी हो चुकी है। स्नेच स्टील प्राइवेट लिमिटेड (कुण्डली) में चम्मच-काँटे बनते हैं। इसमें 9 लोगों की छँटनी हो चुकी है। मैगपाई में स्टील के बर्तन बनते हैं। इसमें 20 लोगों की छँटनी हो चुकी है।

ओवरटाइम न मिलने से मज़दूरों की हालत बहुत ख़राब है। क्योंकि इतनी महँगाई में 2,200-2,400 रुपयों से होता क्या है? जहाँ ओवरटाइम मिल रहा है वहाँ जमकर कमरतोड़ मेहनत करवायी जा रही है। कुण्डली, प्याऊ मनियारी, भोरगढ़, राई इत्यादि इलाक़ों में 'आवश्यकता है' का बोर्ड कहीं नहीं दिख रहा है। मज़दूर शोषण तथा कम वेतन के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ नहीं उठा पा रहे हैं क्योंकि मालिक तुरन्त निकाल देगा और बेरोज़गारों की फ़ौज में से नयी भर्ती कर लेगा।

इन उदाहरणों से ज़ाहिर है कि पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों की 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' कि 'समृद्धि ऊपर से छनकर नीचे आयेगी' भद्दा मज़ाक़ ही साबित होती है क्योंकि समृद्धि तो कभी रिसकर आती नहीं बल्कि मन्दी के समय में संकट का पहाड़ सीधे मज़दूरों के सिर पर गिर पड़ता है। सरकार को मज़दूरों की कोई चिन्ता नहीं होती जबकि मन्दी पैदा करने वाले पूँजीपतियों को बचाने में सरकार आकाश-पाताल एक कर देती है।

– प्रसेन

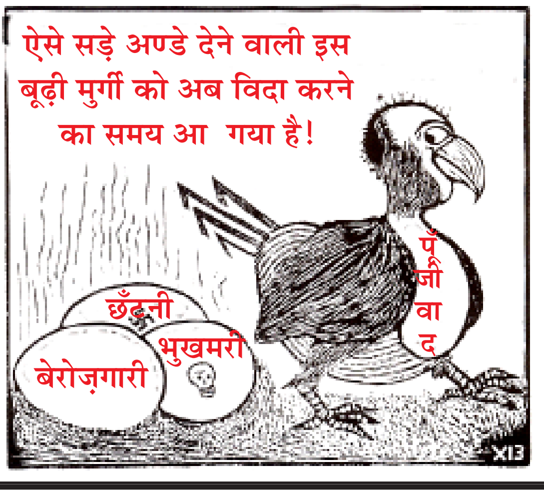

बादली औद्योगिक क्षेत्र

दिल्ली के तमाम औद्योगिक इलाक़ों में छोटी-बड़ी फ़ैक्ट्रियों में लाखों मज़दूर ऐसे हैं जिनके काम की कोई निश्चितता नहीं है। आज इस फ़ैक्ट्री में तो कल उस फ़ैक्ट्री में। कुछ लोग जो एक ही फ़ैक्ट्री या मालिक के पास बरसों से काम कर रहे हैं, उनकी स्थिति भी बदतर ही है। जब तक मालिक को मुनाफ़ा हो रहा है, तब तक ठीक, नहीं तो एक नोटिस या बिना नोटिस के फ़ैक्ट्री बन्द!

ऐसी ही एक फ़ैक्ट्री है हैवल्स इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड। बिजली से चलने वाले विभिन्न सामान, सीएफ़एल बल्ब आदि बनाने वाली यह कम्पनी काफ़ी बड़ी है तथा भारत के कई राज्यों में इसकी फ़ैक्ट्रियाँ हैं। समयपुर बादली के गली नं. 9 में भी हैवल्स की एक काफ़ी पुरानी फ़ैक्ट्री है।

इस फ़ैक्ट्री में क़रीब एक हज़ार मज़दूर काम करते थे। इनमें से 200 के लगभग मज़दूर ऐसे थे जो वर्षों से इसमें काम कर रहे थे। बाक़ी मज़दूर ठेके पर रखे जाते थे तथा उनकी संख्या बढ़ती-घटती रहती थी। यहाँ एक बात यह भी ग़ौरतलब है कि समयपुर तथा बादली औद्योगिक क्षेत्र में ज़्यादातर छोटी-छोटी फ़ैक्ट्रियाँ ही बची हैं जिनमें ज़्यादातर लोहे तथा प्लास्टिक के विभिन्न उत्पाद बनते हैं। जो कुछ बड़ी फ़ैक्ट्रियाँ थीं उनके मालिक धीरे-धीरे विकसित हो रहे नये औद्योगिक क्षेत्रों में जा चुके हैं तथा जो कुछ बड़ी फ़ैक्ट्रियाँ अभी बची हैं उनके मालिकान भी इसी जुगत में हैं। मन्दी ने उन्हें एक सुनहरा मौक़ा दे दिया है। अब वे नियमित मज़दूरों से भी पल्ला झाड़ने के चक्कर में हैं। ऐसा ही हैवल्स के मज़दूरों के साथ भी हुआ।

31 जनवरी को प्रबन्धन ने बताया कि फ़ैक्ट्री बन्द होने वाली है, सभी मज़दूर अपना-अपना हिसाब ले लें। इसके पहले प्रबन्धन अक्टूबर से ही उत्पादन कम करके मज़दूरों की संख्या कम करने में लग गया था तथा अब सिर्फ़ वे ही मज़दूर बचे थे जो काफ़ी समय से फ़ैक्ट्री में काम कर रहे थे। जब मज़दूरों ने एकजुट होकर इसका विरोध किया तो प्रबन्धन ने नयी चाल चली। 4 फ़रवरी को फ़ैक्ट्री गेट पर एक नोटिस लगा दिया गया कि फ़ैक्ट्री शिफ़्ट हो रही है तथा अन्य राज्यों की फ़ैक्ट्रियों में स्थानान्तरण के पत्र मज़दूरों को थमा दिये गये। किसी को कलकत्ता, किसी को हरिद्वार, किसी को पूना शिफ़्ट करने की चिट्ठी थमा दी गयी। अभी मज़दूर कुछ समझ पाते तब तक 17 फ़रवरी को प्रबन्धन फ़ैक्ट्री गेट पर फ़ैक्ट्री बन्द करने का नोटिस लगा चुका था।

समयपुर बादली में ही रेलवे स्टेशन के पास ही आदित्य बिड़ला ग्रुप का बहुत बड़ा गोदाम है। यहाँ पर इस समूह के डिपार्टमेण्ट स्टोर – मोर के लिए विभिन्न उत्पादकों से थोक में सामान ख़रीद कर लाया जाता है तथा उसके बाद यहाँ से विभिन्न डिपार्टमेण्टल स्टोरों पर सामान की डिलीवरी होती है। करीब दो साल पहले जब समूह ने काम शुरू किया तो कई दिनों तक लम्बी-लम्बी लाईन लगाकर मज़दूरों की भर्ती की गयी। उन मज़दूरों को विभिन्न प्रकार के आश्वासन देकर पक्की नौकरी, फ़ण्ड, ईएसआई कार्ड आदि बनाने की बातें करके भर्ती किया गया। करीब 300 लोगों को लेकर काम शुरू किया गया। पहले तो मज़दूरों को आसपास की अन्य फ़ैक्ट्रियों से कुछ ज़्यादा पैसा दिया गया। ओवरटाइम के डबल पैसे दिये गये क्योंकि प्रबन्धन यहाँ पर नया काम शुरू कर रहा था। उसके बाद धीरे-धीरे तरह-तरह के बहाने करके मज़दूरों की संख्या कम की गयी। आसपास के कुछ दबंगों को सुपरवाइज़र के रूप में भर्ती कर लिया गया। जो तरह-तरह से मज़दूरों को तंग करने लगे। ज़्यादातर मज़दूरों ने तंग आकर काम छोड़ दिया तथा प्रबन्धन के ख़िलाफ़ किसी प्रकार का विरोध भी नहीं किया। अब यहाँ मुश्किल से पचास मज़दूर बचे हैं, जबकि पहले की तुलना में काम काफ़ी बढ़ गया है।

बादली औद्योगिक क्षेत्र के फ़ेस तीन के ए-2 में मोबाईल का चार्जर बनाने वाली एक फ़ैक्ट्री है। यहाँ का प्रबन्धन काफ़ी चालाक है। जैसे ही ज़्यादा आर्डर मिलता है, वह ढेर सारे लड़के-लड़कियों को काम पर रख लेता है। काम कुछ ऐसा है कि चन्द घण्टों में मज़दूर तेज़ी से काम करने लगते हैं। एक दिन की दिहाड़ी तो प्रबन्धन ट्रेनिंग के नाम पर मार देता है। उसके बाद मज़दूरों के साथ बात-बात पर गाली-गलौज और ज़रा सा कुछ कहने पर तुरन्त बाहर। कोई मज़दूर दो दिन, कोई तीन दिन तो कोई-कोई पाँच-दस दिन बाद निकाल दिया जाता है। इस तरह से प्रोडक्शन का ज़्यादा हिस्सा बिना किसी मज़दूरी के ही पूरा हो जाता है। जैसे ही मन्दी की बयार बहने लगी, मालिक ने धीरे-धीरे सभी मज़दूरों को एक-एक करके बाहर का रास्ता दिखा दिया। अब मुश्किल से आठ-दस मज़दूरों को लेकर फ़ैक्ट्री चल रही है। मालिक ने मज़दूरों से कहा है कि जैसे ही काम बढ़ेगा तुम लोगों को फिर से काम पर रख लेंगे! जैसे मज़दूर और उसका परिवार तब तक हाथ पर हाथ रखे हवा पीकर ज़िन्दा रहेंगे।

– रूपेश

राष्ट्रीय राजधानी में ग़रीबों के गुमशुदा बच्चों और पुलिस-प्रशासन के ग़रीब-विरोधी रवैये पर बिगुल मज़दूर दस्ता और नौजवान भारत सभा की रिपोर्ट

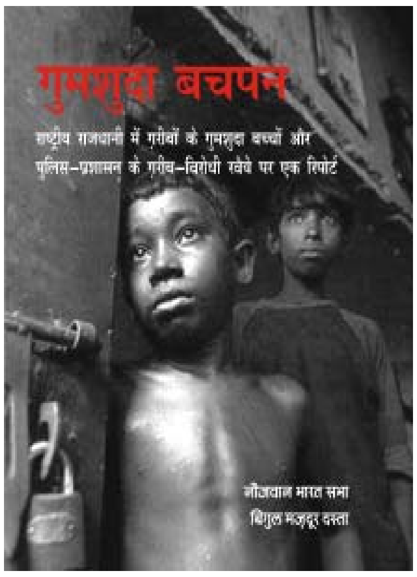

'बिगुल मज़दूर दस्ता' और 'नौजवान भारत सभा' ने पिछले वर्ष मई से राष्ट्रीय राजधनी क्षेत्र में बड़ी संख्या में ग़रीबों के बच्चों के गुम होने और इस मामले में पुलिस-प्रशासन के वर्गीय पूर्वाग्रहों से काम करने का सवाल उठाते हुए अभियान शुरू किया था।

ग़ाज़ियाबाद और नोएडा से गायब हो रहे बच्चों पर पिछले वर्ष 'कहाँ गये वे बच्चे' शीर्षक से रिपोर्ट जारी होने के बाद से राजधानी के मीडिया के साथ ही कई संस्थाओं का ध्यान इस ओर गया लेकिन पुलिस या सरकार किसी ओर से कोई ठोस कार्रवाई नहीं हुई है। निठारी की घटना के बाद भी राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने विशेष समिति गठित की थी जिसने बच्चों के गायब होने को लेकर कई सिफारिशें की थीं। सुप्रीम कोर्ट ने भी इस सम्बन्ध में दिशानिर्देश जारी किये हैं। लेकिन ग़रीबों के गुमशुदा बच्चों के एक भी मामले में किसी भी आदेश-निर्देश का पालन नहीं किया जाता है। चूँकि ये ग़रीबों-मज़दूरों के बच्चे हैं इसलिए इन पर किसी का ध्यान नहीं है। बच्चों की गुमशुदगी का मसला महज़ क़ानून-व्यवस्था का मसला नहीं है। यह राजधानी की आधी से अधिक ग़रीब आबादी के बुनियादी मानवाधिकार का सवाल है।

'बिगुल मज़दूर दस्ता' और 'नौजवान भारत सभा' ने कई महीनों तक दो दर्जन से अधिक मज़दूर बस्तियों में सघन जाँच-पड़ताल और दिल्ली पुलिस से आरटीआई के तहत जानकारियाँ जुटाकर दिल्ली में भी इसी तरीके से गायब हो रहे बच्चों के बारे में एक व्यापक रिपोर्ट जारी की है। हम यहाँ इस रिपोर्ट का मुख्य आलेख प्रस्तुत कर रहे हैं। ये संगठन इस मुद्दे को लेकर ग़ाज़ियाबाद, नोएडा और दिल्ली में मेहनतकशों के बीच जनअभियान भी चला रहे हैं। साथ ही अदालती लड़ाई भी लड़ रहे हैं।

लेकिन इस बारे में हमें कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह सवाल किसी अदालती निर्देश या प्रशासनिक कदम से हल हो जायेगा। मुनाफ़े की हवस में पगलाया यह समाज इंसानी ख़ून का प्यासा है! औरतों और बच्चों के सस्ते श्रम को निचोड़ने से भी उसे जब सन्तोष नहीं होता तो वह उन्हें बेचने, उनके शरीर को नोचने-खसोटने और उनके अंगों को निकालकर, उनका ख़ून निकालकर बेच देने की हद तक गिर जाता है। अपने बच्चों को पूँजीवादी समाज के राक्षस से बचाने के लिए कदम-कदम पर लड़ते हुए हमें यह याद रखना होगा कि इस नरभक्षी समाज-व्यवस्था को तबाह किये बिना हमारे बच्चे सुरक्षित नहीं होंगे। – सम्पादक।

पिछले वर्ष मई में नौजवान भारत सभा और बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से नोएडा व ग़ाज़ियाबाद में ग़रीबों के गुमशुदा बच्चों पर जारी रिपोर्ट 'कहाँ गये वे बच्चे' की मीडिया के ज़रिये काफ़ी चर्चा हुई। यह अलग बात है कि विभिन्न संस्थाओं और केन्द्रीय बाल कल्याण मन्त्री के बयानों आदि के बावजूद इस रिपोर्ट में उठाये गये मुद्दों पर कोई भी ठोस कार्रवाई आज तक नहीं हुई है। इसी कड़ी में नौजवान भारत सभा और बिगुल मज़दूर दस्ता की टीम ने दिल्ली में ग़रीबों के बच्चों के बड़ी संख्या में गायब होने पर अपनी जाँच पिछले वर्ष जून-जुलाई में शुरू की थी। विभिन्न बस्तियों/कालोनियों में घर-घर जाकर किये गये सर्वेक्षण के साथ ही हमने आरटीआई के तहत दिल्ली पुलिस से भी गुमशुदा बच्चों के बारे में जानकारी माँगी। अक्टूबर के तीसरे सप्ताह तक दिल्ली पुलिस से जवाब आने का सिलसिला चलता रहा और उसके बाद रिपोर्ट तैयार करने वाली टीम की कुछ अप्रत्याशित व्यस्तताओं के कारण इसकी प्रस्तुति में देर हुई है लेकिन इससे इस रिपोर्ट में उठाये गये मुद्दों की प्रासंगिकता ज़रा भी कम नहीं हुई है।

दिल्ली आज भी गुमशुदा बच्चों के मामले में देश में पहले स्थान पर है, जिनमें 80 प्रतिशत से ज़्यादा संख्या ग़रीबों के बच्चों की होती है। शायद इसीलिए पुलिस से लेकर सरकार तक कोई इस मुद्दे पर गम्भीर नहीं है। पिछले वर्ष सितम्बर तक दिल्ली में 11,825 बच्चे गुमशुदा थे। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अनुसार हर साल दिल्ली से क़रीब 7,000 बच्चे गुम हो जाते हैं, लेकिन यह संख्या दिल्ली पुलिस के आँकड़ों पर आधारित है। हालाँकि विभिन्न संस्थाओं का अनुमान है कि वास्तविक संख्या इससे कई गुना अधिक हो सकती है क्योंकि ज़्यादातर लोग अपनी शिकायत लेकर पुलिस के पास जाते ही नहीं। पुलिस के पास गुमशुदगी की जो सूचनाएँ पहुँचती भी हैं, उनमें से भी बमुश्किल 10 प्रतिशत मामलों में एफ़आईआर दर्ज की जाती है। ज़्यादातर मामलों को पुलिस रोज़नामचे में दर्ज करके काग़ज़ी ख़ानापूर्ति कर लेती है।

हमारी पिछली रिपोर्ट जारी होने के बाद दिल्ली और उसके आसपास बच्चों के गायब होने के मुद्दे की मीडिया में व्यापक चर्चा हुई थी। राष्ट्रीय बाल अधिकार आयोग और केन्द्रीय बाल कल्याण मन्त्री ने भी इन मुद्दों पर बयान जारी किये। कई और संस्थाओं ने भी राजधानी में बड़ी तादाद में बच्चों की गुमशुदगी के सवाल को उठाया। लेकिन स्थिति में आज भी कोई बदलाव नहीं आया है। इन मामलों में पुलिसिया रवैये पर कोई असर नहीं पड़ा है। विभिन्न संगठनों की माँग के बावजूद पुलिस ने आज तक न तो गुमशुदा बच्चों के बारे में कोई वस्तुपरक रिपोर्ट तैयार की है और न ही उसके पास गुमशुदा बच्चों की ठीक-ठीक जानकारी है। इन मामलों में कोई कारगर क़दम उठाना तो दूर, पुलिस ने इस नज़रिये से कोई जाँच करने की ज़रूरत ही नहीं समझी है कि क्या कुछ संगठित गिरोह बच्चों को उठा रहे हैं। हालाँकि इस बीच कई ऐसी घटनाएँ सामने आयी हैं जो बच्चों के गायब होने के पीछे आपराधिक गिरोहों का हाथ होने के स्पष्ट संकेत देती हैं। पिछले वर्ष जुलाई में गोरखपुर में पुलिस ने एक महिला को गिरफ़्तार किया जिसने बताया कि वह दिल्ली सहित कई शहरों से बच्चे उठाती थी और ग़ाज़ियाबाद उसकी गतिविधियों का केन्द्र था। इससे पहले भी ग़ाज़ियाबाद के पास के एक इलाक़े से पकड़ी गयी एक महिला ने ऐसा ही बयान दिया था और 7 जुलाई, 2008 को लखनऊ में बच्चे उठाने वाले एक और गिरोह का पर्दाफ़ाश हुआ जिसके तार दिल्ली सहित पूरे देश में फैले हुए थे। कई अन्य प्रेस रिपोर्टों में भी बच्चों के गायब होने के पीछे आपराधिक साज़िश की आशंका व्यक्त की जा चुकी है। लेकिन जैसाकि आरटीआई के तहत पूछे गये हमारे सवाल पर पुलिस के जवाब से ज़ाहिर है, उसने इस दृष्टिकोण से बच्चों की गुमशुदगी की जाँच-पड़ताल की ज़रूरत ही नहीं महसूस की है।

सवाल उठता है कि अगर गायब होने वाले इन बच्चों के माँ-बाप ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय लोग नहीं बल्कि समृद्ध तबक़ों के लोग होते तब भी क्या पुलिस इतनी ही निष्क्रिय और संवेदनहीन बनी रहती? नोएडा में एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के सीईओ का बच्चा गुम हुआ था तो पूरी प्रदेश सरकार और सारे राष्ट्रीय मीडिया ने उसकी खोज में रात-दिन एक कर दिया था।

आँकड़ों के पीछे का सच

बच्चों की गुमशुदगी के आँकड़े तो भयावह हैं ही, इनके पीछे की ज़मीनी सच्चाई और भी डरावनी है। ज़्यादातर मामलों में पुलिस का रवैया घोर उपेक्षा, लापरवाही और वर्गीय पूर्वाग्रहों से भरा होता है। आरटीआई के तहत पूछे सवालों के जवाब में दिल्ली पुलिस ने उच्चतम न्यायालय के दिशा-निर्देशों का पालन करने का बढ़चढ़कर दावा किया है लेकिन जाँच टीम अपने सर्वेक्षण के दौरान खोये हुए बच्चों के जिन परिवारों से मिली उनके अनुभव अलग ही कहानी बयाँ करते हैं।

यह स्पष्ट रहे कि इस रिपोर्ट में किया गया सर्वेक्षण महज़ एक नमूना सर्वेक्षण है जिसका मकसद इस समस्या की गम्भीरता की ओर सरकार, मीडिया और जागरूक नागरिकों का ध्यान खींचना है। इसका उद्देश्य महज़ यह बताना नहीं है कि दिल्ली में बड़ी संख्या में बच्चे गायब हो रहे हैं। यह तथ्य अनेक सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाओं और मीडिया द्वारा आँकड़ों सहित सामने लाया जा चुका है।

इस रिपोर्ट के ज़रिये हम इस बात को रेखांकित करना चाहते हैं कि चूँकि गुमशुदा बच्चों में से भारी बहुमत समाज के ग़रीब, मेहनतकश और वंचित तबक़ों के बच्चों का होता है, इसलिए इस समस्या के प्रति आपराधिक क़िस्म की लापरवाही और उपेक्षा का रवैया अपनाया जाता है। ज़्यादातर मामलों में पुलिस एफ़आईआर ही दर्ज नहीं करती, क़रीब दस प्रतिशत मामलों में अगर दर्ज कर भी लेती है तो यह महज़ ख़ानापूरी होती है और बच्चों की तलाश के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता। यहाँ तक कि बच्चे के खो जाने से ग़मज़दा ग़रीब माँ-बाप को पुलिस थानों में अक्सर अपमानित होना पड़ता है। "बच्चे पैदा किये हैं तो सँभालकर रखना भी सीख लो," "एक गायब हो गया तो क्या हुआ, दूसरा पैदा कर लो," जैसे फ़िकरों से लेकर गाली-गलौज और पैसों की माँग तक का उन्हें सामना करना पड़ता है। अधिकांश मामलों में माँ-बाप ख़ुद ही पैसे जुटाकर अख़बारों में इश्तहार या पर्चे-पोस्टर छपवाते हैं – अदालत के दिशा-निर्देशों के पालन का दावा करने वाली पुलिस कुछ नहीं करती। दिल्ली और इसके आसपास बच्चे उठाने वालों के गिरोहों की ख़बरें बार-बार मिलने के बावजूद, एक ही इलाक़े से थोड़े समय में अनेक बच्चों के गुम हो जाने जैसी घटनाओं और कई बच्चों के परिजनों द्वारा ऐसी आशंका व्यक्त करने के बावजूद पुलिस ने गुमशुदगी के मामलों की इस नज़रिये से जाँच करने की ज़रूरत ही नहीं समझी है। नोएडा के निठारी काण्ड, गुड़गाँव के किडनी रैकेट के अलावा बच्चों की अवैध तस्करी या ज़बरन भिखारी बनाने के लिए उनका अपहरण करने वाले अपराधियों की ख़बरें इस आशंका को बलवती करती हैं कि कतिपय अपराधी गिरोहों द्वारा साज़िशाना तरीक़े से ग़रीबों के बच्चों को निशाना बनाया जा रहा है। लेकिन दिल्ली पुलिस ने इस पहलू से मामले की कभी जाँच ही नहीं की है। अगर देश की राजधानी में यह हालत है तो दूसरे राज्यों की स्थिति की तो कल्पना ही की जा सकती है।

पुलिस का यह रवैया बार-बार निठारी काण्ड की याद दिलाता है। याद कीजिये उस वक़्त भी गायब होने वाले बच्चों के ग़रीब माँ-बाप अपनी शिकायत लेकर पुलिस के पास जाते थे और बार-बार पुलिस उन्हें अपमानित करके भगा देती थी। अगर उस समय पुलिस ने इन शिकायतों पर कार्रवाई की होती तो कितने मासूम बच्चों को उन हैवानों का शिकार होने से बचाया जा सकता था।

ऐसे में हम यह रिपोर्ट सरकार और समाज के सामने प्रस्तुत करते हुए उम्मीद करते हैं कि इस मुहिम में हमें तमाम जागरूक, संवेदनशील नागरिकों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों और प्रबुद्धजनों का सहयोग मिलेगा।

रिपोर्ट के लिए तथ्य-संग्रह का तरीक़ा

इस रिपोर्ट के लिए तथ्य-संग्रह मुख्यत: दो स्रोतों से किया गया है। नौजवान भारत सभा और बिगुल मज़दूर दस्ता की जाँच टीमों ने गत वर्ष जून-जुलाई में पूर्वी दिल्ली के करावल नगर, उत्तर-पश्चिमी दिल्ली के तहत जे.जे. पुनर्वास कालोनी टीकरी खुर्द, भोरगढ़, कुरैनी, जे.जे., पुनर्वास कालोनी बवाना, जे.जे. पुनर्वास कालोनी मेट्रो विहार, होलम्बी कलाँ, होलम्बी खुर्द, सावदा, शाहबाद डेरी, शाहबाद-दौलतपुर, जे.जे. कालोनी सेक्टर 26-27 रोहिणी, दाना विहार, सूरज पार्क, समयपुर बादली, हैदरपुर, संजय कालोनी, जे.जे. कालोनी भलस्वा, जहाँगीरपुरी, आजादपुर, वजीरपुर, जखीरा पुल के नीचे की झुग्गी-बस्ती, आनन्द पर्वत, पटेलनगर, कीर्तिनगर, कर्म पुरा, नारायणा, मायापुरी, कैण्ट क्षेत्र, दक्षिण दिल्ली के भूमिहीन कैम्प, कालकाजी, नेहरू कैम्प, गोविन्दपुरी, संगम विहार, तिगड़ी संजय कैम्प, सुभाष कैम्प, दक्षिणपुरी, अम्बेडकरनगर आदि में गली-गली घूमकर जाँच-पड़ताल की। इन सभी इलाक़ों में जिन खोये हुए बच्चों के बारे में पता चला उनके परिवारों से मिल कर बच्चे के गायब होने की परिस्थितियों, पुलिस की कार्रवाई और रवैये आदि के बारे में जानकारी इकट्ठा की गयी।

इसी के साथ इन संगठनों की ओर से सूचना का अधिकार क़ानून के तहत दिल्ली पुलिस से गुमशुदा बच्चों के बारे में जानकारी माँगी गयी। हमने दिल्ली पुलिस मुख्यालय में 17 जून 2008 को दिये पत्र के ज़रिये दिल्ली में गायब होने वाले बच्चों की ज़िलावार जानकारी माँगी तथा साथ ही सभी ज़िलों के सूचना अधिकारियों को अलग-अलग पत्र देकर उनसे उनके ज़िले में गुमशुदा बच्चों के बारे में थानावार जानकारी माँगी गयी। अपने जवाब में सभी ज़िलों की पुलिस ने बताया कि बच्चों की गुमशुदगी के मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्देशों का पालन किया गया। लेकिन सर्वेक्षण के दौरान जाँच टीम को ज़्यादातर ऐसे परिवार मिले थे जिन्होंने बताया कि पुलिस ने बच्चों की तलाश के लिए किसी भी दिशा-निर्देश का पालन नहीं किया। इसीलिए 11 अगस्त 2008 को दोबारा आरटीआई के तहत याचिका दायर करके पुलिस से पूछा गया कि उच्चतम न्यायालय के दिशा-निर्देशों का पालन किस रूप में किया गया। सभी ज़िलों की पुलिस ने अपने उत्तर में महज़ यह कहकर इतिश्री कर ली कि सभी दिशा-निर्देशों का पालन किया गया है।

दिल्ली पुलिस के जवाब अपने आप में इस बात का प्रमाण हैं कि इतने संवेदनशील मुद्दे को वह कितनी कम गम्भीरता से लेती है। सन्देहास्पद आँकड़े पेश करने से लेकर, ख़ुद जाकर थानों से आँकड़े जुटा लेने की सलाह देने और अदालती दिशा-निर्देशों के पालन के सम्बन्ध में ग़लतबयानी करने तक से पुलिस बाज़ नहीं आयी है।

नब्बे प्रतिशत मामलों में एफ़आईआर दर्ज नहीं

स्वयं दिल्ली पुलिस द्वारा दिये गये आँकड़ों से यह चौंकाने वाला तथ्य सामने आता है कि बच्चों की गुमशुदगी के दस प्रतिशत से भी कम मामलों में पुलिस एफ़आईआर दर्ज करती है। आरटीआई के तहत नौजवान भारत सभा और बिगुल मज़दूर दस्ता को दी गयी जानकारी के अनुसार वर्ष 2007 में दिल्ली से कुल 5600 बच्चे गायब हुए और 2008 में 13 जून तक 2264 बच्चे गायब हुए थे यानी क़रीब डेढ़ वर्ष में कुल 7864 बच्चों के गुम होने की सूचना दिल्ली पुलिस को मिली। इनमें से सिर्फ़ 753 मामलों में पुलिस ने एफ़आईआर दर्ज की जोकि कुल मामलों का केवल 9.5 प्रतिशत है। पुलिस के अनुसार डेढ़ वर्ष की इस अवधि में कुल 6180 बच्चों का पता लगा लिया गया या वे घर लौट आये। यानी इस दौरान लापता कम से कम 1684 बच्चों का पता नहीं चला। सितम्बर 2008 में दिल्ली पुलिस के एक वरिष्ठ अधिकारी द्वारा एक प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक को दी गयी जानकारी के अनुसार, शहर में अब तक कुल 11,825 बच्चे लापता हैं।

जाँच टीम ने अपने सर्वेक्षण के दौरान 82 गुमशुदा बच्चों के परिवारों से मुलाक़ात की। ये सभी बेहद ग़रीब परिवारों के बच्चे थे। सर्वेक्षण के समय इनमें से सात बच्चों को छोड़कर शेष सभी को लापता हुए दो माह से लेकर कई वर्ष तक का समय बीत चुका था। इनमें से 16 लड़कियाँ हैं और अधिकांश बच्चे 14 वर्ष से कम उम्र के

(पेज 5 पर जारी)

राष्ट्रीय राजधानी में ग़रीबों के गुमशुदा बच्चों और पुलिस-प्रशासन के ग़रीब-विरोधी रवैये पर रिपोर्ट

(पेज 4 से आगे)

हैं। इनके अलावा, जाँच टीम को क़रीब 25 और ऐसे परिवारों का पता चला जिनके बच्चे गुम हुए थे लेकिन उनके घरवालों के कहीं और चले जाने के कारण उनसे सम्पर्क नहीं हो सका।

इन सभी पीड़ित परिवारों की कहानी एक जैसी ही है। बच्चे के खो जाने की रिपोर्ट लेकर थाने में जाने पर या तो उसे दर्ज ही नहीं किया गया या फिर महज़ रोज़नामचे में सूचना चढ़ाकर उन्हें चलता कर दिया गया। कई बच्चों के माँ-बाप ने तो पुलिस के डर से बच्चा ग़ायब होने के सूचना ही नहीं दी। पुलिस के रवैये को लेकर लोग इस कदर हताश हो चुके हैं कि दिल्ली की पूर्व डिप्टी पुलिस कमिश्नर किरण बेदी का कहना है कि बच्चों की गुमशुदगी के मामले अब पुलिस से ज़्यादा चाइल्ड हेल्पलाइन के पास दर्ज कराये जाते हैं।

"बच्चा ग़ायब हो गया तो क्या हुआ, और पैदा कर लो!"

जे.जे. पुनर्वास कालोनी, बवाना का मोहम्मद हमीदुल 1 अप्रैल, 2008 से गुमशुदा था। घरवालों ने तीन दिन बाद नरेला थाने में गुमशुदगी की रिपोर्ट लिखायी। दो महीने बाद जब उसकी माँ बच्चे के बारे में पूछने बवाना पुलिस चौकी में गयी तो एक सिपाही ने जवाब दिया – "बच्चा ग़ायब हो गया तो क्या हुआ, और पैदा कर लो!"

उत्तर-पश्चिम दिल्ली में शाहबाद-दौलतपुर के सत्यवान का बेटा प्रदीप जून 2008 में अचानक ग़ायब हो गया। पिता ने पुलिस के सामने जब यह सन्देह व्यक्त किया कि शायद किसी ने बच्चे को उठा लिया है तो पुलिस अधिकारी ने कहा, "तू क्या इतना पैसे वाला है कि कोई तेरे बच्चे को उठायेगा?" प्रदीप के घरवाले पुलिस से इतना डरे हुए थे कि उन्होंने आगे कुछ पूछताछ ही नहीं की।

जे.जे. कालोनी बवाना के रिक्शा चालक बाबूलाल का बेटा शाकिर क़रीब एक साल से ग़ायब है। पुलिसवालों ने बच्चे को खोजने के एवज में दो हज़ार रुपये माँगे। उसके बाद से लोग पुलिस के पास गये ही नहीं। इसी बस्ती के छोटेलाल जब अपने बच्चे राजू की गुमशुदगी की रिपोर्ट लिखाने नरेला थाने पहुँचे तो उनसे पाँच हज़ार रुपये की माँग की गयी।

नरेला में बेलदारी करने वाले अमित मण्डल का साढ़े पाँच वर्ष का बच्चा ग़ायब हुआ तो तीन दिन की दौड़धूप के बाद डाबरी थाने में सूचना तो दर्ज की गयी लेकिन बच्चे को खोजने के लिए पुलिस ने कुछ नहीं किया। बार-बार पूछने पर एक ही जवाब मिलता – "गुम किया है, तो जाकर खोजो भी!"

जे.जे. पुनर्वास कालोनी, बवाना में रहने वाले निर्माण मज़दूर कैलाश राम का 7 वर्ष का बेटा पृथ्वी जून 2006 से गुमशुदा है। नरेला थाने के कई चक्कर लगाने के बाद भी पुलिस ने रिपोर्ट नहीं दर्ज की। छह महीने बाद वकील की मदद से इनकी रिपोर्ट तो लिख ली गयी लेकिन और कोई कार्रवाई नहीं हुई।

जहाँगीरपुरी के राज कुमार (पिता रोहताश), इसी बस्ती के अहादुल्ला (पिता सरफुद्दौला), इलियास (पिता रियासत), सुरेश (पिता हंसराज), शहीद सुखदेव नगर, वजीरपुर के पोपल (पिता कुंवरसेन) सहित कई बच्चों के परिजनों को पुलिस ने ज़ुबानी बता दिया कि उनकी रिपोर्ट लिख ली गयी है लेकिन इनमें से किसी को एफ़आईआर की प्रतिलिपि नहीं दी गयी।

कर्मपुरा इलाक़े की सरोज जब अपने बच्चे के ग़ायब होने की रिपोर्ट लिखाने मोतीनगर थाने में गयी तो पुलिस का जवाब था, "हमें क्या यही काम है। बच्चे पैदा किये हैं तो तुम्हीं जाकर ढूँढ़ो।"

ग़रीब बच्चों के घरवालों से पुलिस के अपमानजनक व्यवहार के ये तो चन्द एक उदाहरण हैं। एक तो बच्चे के खो जाने का दुख, ऊपर से क़दम-क़दम पर पुलिस और प्रशासन का संवेदनहीन और अपमानजनक सुलूक। थक-हारकर ज़्यादातर लोग कलेजे पर पत्थर रखकर मान लेते हैं कि उनका बच्चा अब उन्हें नहीं मिलेगा।

पुलिस की संवेदनहीनता और आपराधिक लापरवाही

समाज में ऊँची हैसियत वाले परिवारों या यहाँ तक कि मध्यवर्गीय परिवारों के बच्चे भी जब ग़ायब होते हैं तो पुलिस बड़ी तत्परता से उन्हें ढूँढ़ने में जुट जाती है। देश के दूर-दराज़ के शहरों तक में पुलिस की टीमें बच्चों की तलाश में दौड़ाई जाती हैं। लेकिन ग़रीब लोगों के बच्चों को तलाशने की बात तो दूर, बहुत से मामलों में स्पष्ट सुराग़ के बाद भी पुलिस कुछ नहीं करती।

जहाँगीरपुरी के धानाराम की 5 वर्षीय बेटी आरती कई वर्ष पहले ग़ायब हो गई थी। पुलिस की संवेदनहीनता से तंग आ चुके धानाराम ने जाँच टीम को बताया कि आरती के ग़ायब होने से कुछ ही दिन पहले उनका एक मूक-बधिर लड़का गुम हो गया था। वह एक महिला को मिला जो उसे अपने घर ले गयी थी और रोज जहाँगीरपुरी थाने में लेकर जाती थी। लेकिन उसी थाने में रिपोर्ट दर्ज होने के बावजूद पुलिस उस लड़के को घर नहीं पहुँचा सकी। संयोगवश धानाराम को उसका पता चल गया। जब वह रिक्शे पर अपने बच्चे के ग़ायब होने का प्रचार कर रहे थे तभी वह महिला थाने से उसे लेकर लौट रही थी।

शाहबाद डेरी की पानकुमारी ने अपने 3 माह के बच्चे को ग़ायब करने की रिपोर्ट में स्पष्ट कहा कि रोहिणी की एक कोठी की महिला उसे ले गई लेकिन बार-बार कहने पर भी पुलिस ने कोठीवालों से पूछताछ तक नहीं की।

पुलिस की उपेक्षा और लापरवाही की शिकायत ज़्यादातर परिवारों ने की। पुलिसिया उदासीनता का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि बच्चों को उठाने वाले अपराधियों की संलिप्तता का सन्देह पैदा करने वाले अनेक साक्ष्यों तथा परिजनों के आरोपों के बावजूद पुलिस ने आज तक इस नज़रिये से जाँच करने की कोई ज़रूरत ही नहीं समझी है। बार-बार पुलिस अधिकारी यही दोहराते रहते हैं कि बच्चे "प्रेम-प्रसंग" के कारण घर से भाग जाते हैं या फिर इम्तिहान के डर से।

उच्चतम न्यायालय के निर्देशों की स्पष्ट अनदेखी

आरटीआई के तहत दिये गये जवाब में दिल्ली पुलिस ने दावा किया है कि खोये हुए बच्चों के मामले में उच्चतम न्यायालय के दिशानिर्देशों का पालन किया गया है। लेकिन हमारे सर्वेक्षण में यह ज़मीनी हक़ीक़त सामने आयी कि ज़्यादातर मामले में पुलिस किसी भी दिशानिर्देश का पालन नहीं करती।

बहुत से मामलों में तो पुलिस ने 24 घण्टे के अन्दर बच्चे के परिजन, पड़ोसियों आदि से पूछताछ करने तक की ज़िम्मेदारी नहीं निभायी। अख़बारों में इश्तहार देने और महत्त्वपूर्ण स्थानों पर पोस्टर लगवाने के स्पष्ट दिशानिर्देशों के बावजूद इक्का-दुक्का मामलों में ही पुलिस ऐसा करती है। ज़्यादातर मामलों में बच्चों के परिवार वाले ख़ुद ही पर्चे-पोस्टर छपवाकर लगाते हैं।

ये तमाम स्थितियाँ बताती हैं कि राजधानी में ग़रीबों-मेहनतकशों के बच्चे सुरक्षित नहीं हैं। इससे भी चिन्ताजनक तथ्य यह है कि पूरा प्रशासनिक तन्त्र इस समस्या को लेकर कतई गम्भीर नहीं है। ग़रीबों-मज़दूरों के बच्चों के प्रति तो पुलिस-प्रशासन का रवैया सीधे-सीधे वर्गीय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त दिखता है। खोये बच्चों की रिपोर्ट दर्ज करने और उनकी तलाश के लिए स्पष्ट क़ानूनी प्रावधान नहीं होने के कारण स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है।

इसलिए, नौजवान भारत सभा और बिगुल मज़दूर दस्ता सरकार से यह माँग करते हैं :

1. राजधानी और इसके आसपास से लगातार बड़ी संख्या में बच्चों के ग़ायब होने के पीछे अपराधी गिरोहों की साज़िश के पहलू की सीबीआई से जाँच करायी जाये।

2. बच्चों की गुमशुदगी के मामलों में एफ़आईआर दर्ज करना पूरे देश में अनिवार्य बनाया जाये।

3. बच्चियों की गुमशुदगी के मामलों में उच्चतम न्यायालय के दिशानिर्देशों को सभी बच्चों के लिए लागू किया जाये और इनका पालन अनिवार्य बनाया जाये।

4. बच्चों की गुमशुदगी के सम्बन्ध में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की सिफ़ारिशों का सभी राज्यों द्वारा अनुपालन सुनिश्चित कराया जाये।

5. बच्चों की गुमशुदगी के मामलों में पुलिस-प्रशासन द्वारा वर्गीय पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर कार्य करने या लापरवाही बरतने की घटनाओं पर सख्त दण्डात्मक कार्रवाई की जाये।

6. मज़दूरों के बच्चों के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकार की तरफ़ से क्रेच की व्यवस्था की जाये ताकि माँ-बाप उन्हें सुरक्षित माहौल में छोड़कर काम पर जा सकें।

भुखमरी की शिकार दुनिया की एक चौथाई आबादी भारत में

कैसी तरक्की, किसकी तरक्की? हमारे बच्चों को भरपेट खाना तक नसीब नहीं

पाँच साल का सोनू काफ़ी सुस्त रहता है और अक्सर बीमार पड़ जाता है। सरकारी डॉक्टर ने उसका एकमात्र इलाज अच्छा खाना बताया है। 80 रुपया रोज़ाना बमुश्किल कमाने वाला उसका बाप आलू और रोटी के सिवा उसे कुछ और नहीं खिला सकता। दरअसल सोनू हमारे देश के उन 70 फ़ीसदी बच्चों में से है जो पौष्टिक खाना न मिलने की वजह से ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं। संयुक्त राष्ट्र की ताज़ा रिपोर्ट के मुताबिक़ ज़रूरी खानपान न मिल पाने से भारत के 5 साल से कम उम्र के 70 प्रतिशत बच्चों में ख़ून की कमी है। यानी तेज़ी से विकसित हो रहे हमारे देश में बहुसंख्यक बच्चों को 'ठीक से खाना' भी नहीं मिल पा रहा है। देश की ख़ुशहाली और विकास की 'जय हो' का बर्बर उद्घोष इन्हीं 70 फ़ीसदी बच्चों और उनके मेहनतकश माँ-बाप के ख़ून के दम पर किया जा रहा है!

संयुक्त राष्ट्र के विश्व खाद्य कार्यक्रम की ताज़ा रिपोर्ट में दिये गये आँकड़े तरक्की के तमाम दावों के चीथड़े उड़ाने के लिए काफ़ी हैं। रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर में भूखे पेट सोने वालों में से एक चौथाई भारत में हैं और कुपोषित आबादी का 27 फ़ीसदी यहाँ है। कुपोषित बच्चों के मामले में पूरी दुनिया के 100 कुपोषित बच्चों में से 47 हमारे देश के होते हैं, यह संख्या दुनिया के सबसे पिछड़े क्षेत्र सहारा अफ़्रीकी देशों के 28 फ़ीसदी बच्चों से भी कहीं ज़्यादा है! यहाँ के असमय मरने वाले 50 फ़ीसदी बच्चे पौष्टिक खाना न मिल पाने की वजह से मर जाते हैं। वैश्विक भूख सूचकांक में शामिल 119 देशों में से भारत 94वें नम्बर पर पहुँच गया है। भूख और कुपोषण के बारे में होने वाले अधिकांश अध्ययनों में हमारा देश किसी से पीछे नहीं है, बल्कि ग्राफ लगातार ऊपर उठता जा रहा है।

भारत में दुनिया का सबसे बड़ा बाल पोषण कार्यक्रम चलाया जाता है। 450 करोड़ की भारी-भरकम राशि से चलने वाला समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रम या आंगनवाड़ी कार्यक्रम शहर और गाँव के ग़रीबों के बच्चों की स्थिति में कोई ख़ास सुधार लाने में असफल रहा है। रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में मध्यप्रदेश की स्थिति "अत्यधिक ख़तरनाक" और चाड और इथियोपिया जैसे देशों जैसी है। साथ ही, हाल के वर्षों में आर्थिक प्रगति दर्शाने वाले राज्यों महाराष्ट्र और गुजरात में भूखमरी की दर बढ़ी है। देश की राजधानी दिल्ली में, जो कि देश में सबसे ज़्यादा प्रति व्यक्ति आय वाला राज्य है, 5 साल से कम उम्र के 42.2 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं और 26 प्रतिशत बच्चों का वजन कम है।

ये हालात तब हैं जब देश की तरक्की के दावों के बड़े-बड़े हवामहल खड़े किये गये हैं। ऐसा बताया जा रहा है कि अब तो तस्वीर ही बदल गयी है। देश विकास के पथ पर अग्रसर है और जल्द ही हमारे "महान" देश की गिनती दुनिया के सर्वाधिक विकसित देशों में हो जाने वाली है। आँकड़ों की बाजीगरी से विकास दर और जीडीपी में वृद्धि को देश की तरक्की का पैमाना बनाया जा चुका है एक झूठ-मूठ की ख़ुशहाली का अहसास कराया जा रहा है।

वैसे यह सच भी है कि वैश्वीकरण ने एक छोटे से तबके के जीवन स्तर में काफ़ी ख़ुशहाली ला दी है। पूँजीपतियों की सेवा में दिन-रात तल्लीन इस तबके की तनख़्वाहें 40-50 हज़ार से लेकर कुछ लाख महीने तक पहुँच गयी हैं। यह व्यंग्योक्ति एकदम सही है कि तेज़ी से विकसित हो रहा भारत का मध्य वर्ग ख़ूब खा रहा है। यह तबका जनता की गाढ़ी कमाई के दम पर ऐयाशी भरा जीवन बिताता है। मन्दी के बावजूद इसी साल आईएमएम-अहमदाबाद के एक छात्र को ही 1.5 करोड़ रुपये सालाना तनख़्वाह का पैकेज मिलना इस तबके की आर्थिक ख़ुशहाली का एक छोटा सा उदाहरण है। जाहिर है कि ये ही मेहनतकश जनता के दम पर पलने वाले परजीवी ही हैं। लेकिन इस छोटे से तबके की ख़ुशहाली को पूरे देश की आम जनता की ख़ुशहाली ज़बरदस्ती बताया जा रहा है। इस झूठ को सच साबित करने में पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी यानी सरकार से लेकर पार्टियाँ तक, और चाटूकार बुद्धिजीवियों से लेकर बुर्जुआ मीडिया तक पूरी जी-जान से लगे हुए हैं।

देश की तरक्की दरअसल इसके पूँजीपति वर्ग की तरक्की है। यहाँ का पूँजीपति वर्ग आज दुनिया के शीर्ष धनपतियों से मुक़ाबला कर रहा है। दुनिया के कई हिस्सों में आज भारतीय पूँजीपतियों ने अधिग्रहण करके खेत और कारख़ाने हथिया लिये हैं। इनकी धन-सम्पदा भी वैसा ही पागलपन पैदा कर रही है जैसा कि अमेरिका-ब्रिटेन के पूँजीपति करते हैं। मुकेश अम्बानी 60 मंज़िला मकान बनवा रहा है तो अनिल अम्बानी अपनी पत्नी को 400 करोड़ का जहाज भेंट कर रहा है। आईपीएल में अरबों रुपये क्रिकेट के तमाशे में लगाये जा रहे हैं।

लेकिन ऐसा नहीं है कि शासक वर्ग को इस बात का इल्म न हो कि व्यापक जनता का बदहाल जीवन उनके लिए किसी दिन एक ख़तरा बन जायेगा। बल्कि इस ख़तरे को बख़ूबी समझते हुए ही शासकों ने तमाम योजनाएँ शुरू कीं हैं। ज़ोर-शोर से प्रचारित राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना (नरेगा), मिडडे मील योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) आदि ऐसी ही योजनाएँ हैं। यह साफ-साफ समझ लेना ज़रूरी है कि ये योजनाएँ सरकार ने किसी भलमनसाहत या ग़रीब-हितैषी नजरिये से शुरू नहीं की हैं, बल्कि इन्हें लागू करके वे बुनियादी सुविधाओं से महरूम होती जा रही बड़ी आबादी के गुस्से पर पानी के छींटे मारने का काम कर रहे हैं। लेकिन इन योजनाओं का हश्र भी पिछली योजनाओं जैसा ही सामने आ रहा है। यूनीसेफ की सहायता से चलने वाले आंगनवाड़ी कार्यक्रम और सार्वजनिक वितरण प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार और घोर अनियमितताओं की ही तरह नरेगा, मिडडे मील और एनआरएचएम में भयंकर गड़बड़ियों की बात कई सामाजिक संगठनों की रिपोर्टों से लेकर कैग की रिपोर्ट में भी सामने आ रही हैं। वैसे भी लूट पर टिकी इस व्यवस्था में इन योजनाओं की यही सद्गति होनी थी।

पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूर को इंसान माना ही नहीं जाता। उसे मात्र एक उत्पादन के औज़ार के तौर पर देखा जाता है। मज़दूर को सिर्फ़ जीने लायक पैसा दिया जाता है। ज़दूर को जिन्दा रहने लायक और नये मज़दूर पैदा करने के लिए परिवार चलाने लायक मज़दूरी ही दी जाती है। लेकिन आज पूँजीवाद उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ वह मज़दूरों को जिन्दा रहने और परिवार चलाने लायक मज़दूरी देना भी ज़रूरी नहीं समझता है। वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी ने इस स्थिति को और ज़्यादा ख़राब कर दिया है। नतीजा ग़रीबों में और ख़ासतौर पर उनके बच्चों में ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ती जा रही भुखमरी और अच्छा खानपान न मिलने से ख़राब होता जा रहा स्वास्थ्य है। अपना पेट काट कर बच्चों को खिलाने के लिए भी अब मज़दूरों के पास कुछ नहीं बचता। मुनाफ़े की हवस पहले से कहीं ज़्यादा आज मेहनतकश वर्ग के नौनिहालों का निवाला छीन रही है। सरमायेदारों का लालच आज पहले से ज़्यादा मेहनतकशों के बच्चों को असमय मौत के मुँह में धकेल रहा है। मेहनतकश वर्ग के पास अब एकमात्र रास्ता इस मानवभक्षी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना रह जाता है, अपने से ज़्यादा अपने बच्चों के लिए।

– कपिल स्वामी

आर्थिक संकट पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की लाइलाज बीमारी है

पूंजीवादी आर्थिक संकट "अतिउत्पादन" का संकट है

विश्वव्यापी आर्थिक संकट के असली कारणों पर पर्दा डालने के लिए पूँजीवादी अर्थशास्त्री और नेता तरह-तरह के कारण बता रहे हैं। कोई कह रहा है कि कुछ पूँजीपतियों के ज़्यादा लालची हो जाने के कारण ऐसा हुआ तो कोई कहता है कि बाज़ार को नियंत्रित करने वाली व्यवस्थाओं में गड़बड़ी के कारण संकट पैदा हो गया। ये सभी कारण सही हैं लेकिन मगर हर पूँजीवादी संकट की तरह इस संकट का मूल कारण भी **अतिउत्पादन** का ही संकट है। बात सुनने में अजीब लगती है कि जब दुनिया में करोड़ों लोगों के पास ज़रूरी चीजों की भी कमी है तो "अतिउत्पादन" का संकट कैसे पैदा हो सकता है। लेकिन यही तो पूँजीवाद है!

पूंजीवाद के पहले भी अनेक सामाजिक, आर्थिक और आजीविका सम्बन्धी संकट पैदा हुए थे। भूस्वामी वर्ग द्वारा किसानों के बर्बर शोषण, युद्ध की तबाही, और बाढ़, सूखा, नाशक कीटों या आंधी-तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं के कारण कृषि उत्पादन को भारी नुकसान पहुंचता था, मेहनतकश बेघर हो जाते थे और लाखों लोग भूख या प्लेग जैसी महामारियों से मर जाते थे। उस समय, सामाजिक, आर्थिक या आजीविका सम्बन्धी संकट की ख़ासियत थी, अपर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन। लेकिन पूंजीवादी आर्थिक संकट की विशेषता अपर्याप्त उत्पादन नहीं बल्कि अति-उत्पादन है। भारी मात्रा में माल बिक नहीं पाते हैं, फैक्टरियाँ बन्द हो जाती हैं, बैंकों का कारोबार ठप हो जाता है, शेयरों के भाव गिरने लगते हैं, बेरोजगारी तेजी से बढ़ती है, उत्पादक शक्तियों को भारी नुकसान पहुँचता है और पूरी अर्थव्यवस्था लकवाग्रस्त और अस्त-व्यस्त हो जाती है – ये पूंजीवादी आर्थिक संकट के प्रमुख लक्षण हैं।

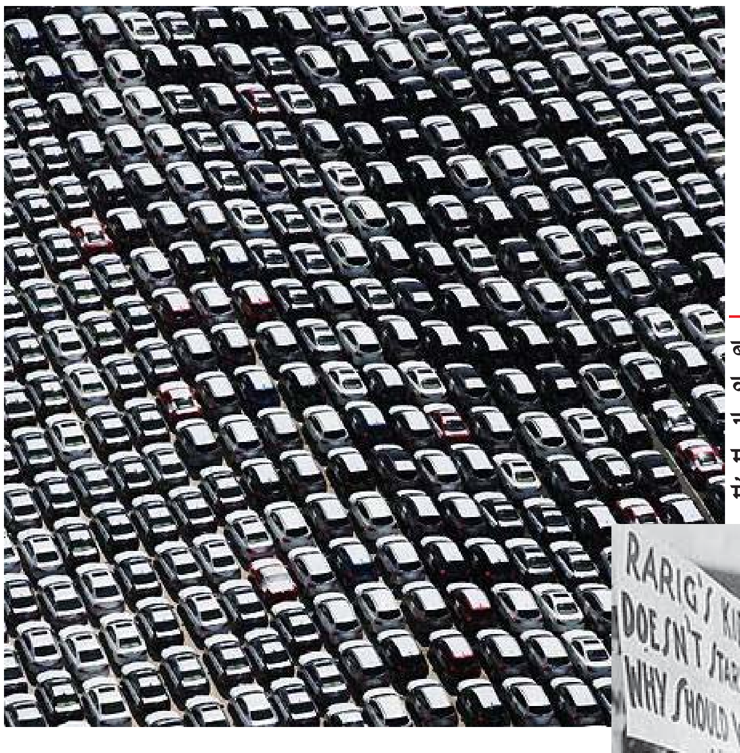

पूंजीवाद में यह तथाकथित ''अतिउत्पादन'' वास्तव में अतिउत्पादन नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं होता कि समाज में ज़रूरी चीज़ों का उत्पादन इतना ज्यादा हो गया हैं कि लोग उन सबका उपभोग नहीं कर सकते। आर्थिक संकटों के दौरान इस प्रकार की बातें आम होती हैं : कपड़ा मजदूरों को यह कहकर छंटनी की नोटिस पकड़ा दी जाती है कि सूत और वस्त्रों का उत्पादन इतना ज्यादा हो गया है कि उसकी बिक्री नहीं हो पा रही है, इसलिए उत्पादन में कटौती और मजदूरों की छंटनी करना जरूरी हो गया है। लेकिन कपड़ा मजदूर और उनके परिवार मुश्किल से तन ढांप पाते हैं। कपड़ा पैदा करने वाले कपड़ा खरीद नहीं पाते। खान मजदूरों को यह कहकर छंटनी की नोटिस थमाई जाती है कि कोयले का अतिउत्पादन हो गया है और उत्पादन तथा मजदूरों की तादाद दोनों में कटौती जरूरी है। लेकिन, खान मजदूर और उनके परिवारों को ठिठुरते हुए जाड़े की रातें काटनी होती हैं क्योंकि उनके पास कोयला खरीदने को पैसा नहीं होता। इसलिए, पूंजीवादी अतिउत्पादन सापेक्षिक अतिउत्पादन होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक उत्पादन का आधिक्य केवल लोगों की क्रयशक्ति के सापेक्ष होता है। आर्थिक संकटों के दौर में मांग के अभाव में, पूंजीपति के गोदामों में माल का स्टाक जमा होता जाता है। विभिन्न माल पड़े-पड़े सड़ जाते हैं या यहां तक कि उन्हें जानबूझकर नष्ट किया जाता है। दूसरी ओर व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय रोटी-कपड़ा खरीदने की भी क्षमता नहीं रखता और भुखमरी से जूझता रहता है।

पूंजीवादी समाज में आर्थिक संकट हर हाल में आते ही हैं। अतिउत्पादन के आर्थिक संकटों का स्रोत और कारण स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था में ही निहित है। कैसे?

मुनाफ़े की अन्धी होड़ में पूँजीपति ज़्यादा से ज़्यादा बड़े पैमाने पर उत्पादन करता है जबकि उसकी तुलना में मेहनतकश जनता की खरीदने की शक्ति घटती जाती है। पूंजीपति अधिक मुनाफे की तलाश में उत्पादन का विस्तार करने का हर सम्भव प्रयास करता है क्योंकि जितने बड़े पैमाने पर उत्पादन होगा, उतना ही अधिक अतिरिक्त मूल्य वह उगाह सकेगा। साथ ही, पूंजीपति के लिए अपनी तकनीकों में सुधार लाना और उत्पादन का पैमाना बढ़ाना इसलिए भी जरूरी होता है ताकि दूसरे पूंजीपति उसे धकिया कर होड़ से बाहर न कर दें। उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ उपभोग का स्तर भी बढ़ना चाहिए ताकि बढ़े हुए माल उत्पादन को बेचा जा सके और सामाजिक उत्पादन जारी रहे। लेकिन उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के तहत पूंजीपति हमेशा मजदूरी को न्यूनतम संभव स्तर तक घटाने की कोशिश करता है। पूंजीवादी उत्पादन का विकास और नई तकनीकों का अपनाया जाना अपरिहार्यत: बड़ी संख्या में किसानों और दस्तकारों को दिवालिया बना देता है जिससे छोटी पूंजी बड़ी पूंजी द्वारा निगल ली जाती है। इस तरह, एक ओर उत्पादन का जबर्दस्त विस्तार होता है, दूसरी ओर मेहनतकश आबादी की क्रयशक्ति सापेक्षिक रूप से घटती जाती है। नई मशीनें मज़दूरों को रोज़गार से बाहर कर देती हैं। पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ जाता है लेकिन रोज़गार में लगे मज़दूरों की संख्या में गिरावट आ जाती है।

बायें : यूरोप और अमेरिका में अनबिकी कारों का अम्बार अकट्ठा होता जा रहा है।
नीचे : अमेरिका में प्रदर्शन करते बेरोज़गार मजदूरों के बच्चे। तख्तियों पर लिखा है - तुम मेरे पिता को नौकरी क्यों नहीं दे सकते?

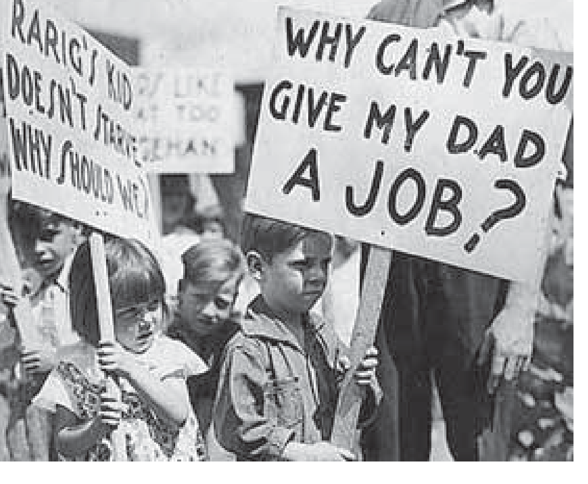

पूँजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध हर हाल में आर्थिक संकटों को इसलिए भी पैदा करता है क्योंकि अलग-अलग कारखानों में तो उत्पादन संगठित होता है पर सामाजिक उत्पादन में अराजकता फैली रहती है। उत्पादन के सामाजिक होते जाने के साथ उत्पादन के सेक्टरों के बीच और विभिन्न उद्यमों के बीच के सम्बन्ध और आपसी निर्भरता बढ़ती जाती है। लेकिन पूँजीवादी निजी मालिकाना पूरे समाज को एक-दूसरे से अलग-थलग पूंजीवादी उद्यमों में बाँट देता है। किस क्षेत्र को कितने उत्पादन की ज़रूरत है यह किसी को पता नहीं होता। सभी अन्धाधुन्ध उत्पादन में लगे रहते हैं ताकि होड़ में टिके रह सकें। इसलिए, पूरे समाज का उत्पादन अराजक स्थितियों में जारी रहता है। अलग-अलग पूँजीपतियों के लिए किसी माल की वास्तविक माँग को जानना सम्भव ही नहीं होता। मुनाफा होता है तो पूँजीपति उत्पादन का विस्तार करने के लिए आपस में होड़ करेंगे। साथ ही, पूँजीवादी वाणिज्यिक गतिविधियाँ कृत्रिम माँग भी पैदा कर सकती हैं जो समाज की वास्तविक क्रयशक्ति को छुपाती है। हालांकि उत्पादन वास्तव में जनसाधारण की क्रय शक्ति से ज्यादा होता है, फिर भी जब तक बाजार में दाम चढ़ते रहेंगे, तबतक वाणिज्यिक पूँजीपति औद्योगिक पूँजीपतियों को माल का आर्डर देते रहेंगे और वित्तीय पूँजीपति औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूँजीतियों को ऋण मुहैया कराते रहेंगे ताकि औद्योगिक पूँजीपति उत्पादन का विस्तार कर सकें -- और इस तरह बाजार में एक कृत्रिम समृद्धि बनी रहती है। यह कृत्रिम समृद्धि अतिउत्पादन की मौजूदगी और विकास पर पर्दा डालने का काम करती है। अन्तत: जब अतिउत्पादन पर से पर्दा हटता है तो यह ताबड़तोड़ आर्थिक संकटों के रूप में सामने आता है।

अमेरिका में 1940 के दशक की मन्दी में बेरोज़गार एक मज़दूर का परिवार

पूँजीवाद के साथ ही इस बीमारी का अन्त होगा!

जब तक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी, पूँजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध अपना काम करता रहेगा। पूँजीवादी आर्थिक संकट ऐसी समस्या नहीं है जो एक या दो बार उपस्थित हो जाती है, बल्कि ये अपरिहार्यत: समय-समय पर फूटते रहेंगे। इतिहास में पीछे मुड़ कर देखें तो हम पाते हैं कि बड़े पैमाने पर पहला आर्थिक संकट 1825 में इंग्लैंड में पैदा हुआ था। उसके बाद 1836, 1848, 1857 और 1867 में फिर आर्थिक संकटों की पुनरावृत्ति हुई। औसतन हर दस वर्ष में एक बार वे पैदा होते रहे। इसके बाद तो और भी गम्भीर संकटों का अनवरत क्रम बना रहा है। संकट के दो चक्रों के बीच का अन्तराल प्राय: कम होता जाता रहा है और यदि कभी ऐसा नहीं होता रहा है तो अगली बार संकट अधिक भीषण रूप में सामने आता रहा है। इस प्रक्रिया में एक नया मुक़ाम था 1930 के दशक की महामन्दी और आर्थिक महाध्वंस। 1970 के दशक से दीर्घकालिक आर्थिक संकट लगातार जारी है। 1973-74 के बाद से ही स्थिति यह है कि रोगी की तबीयत बीच-बीच में कुछ सँभलती है, कुछ राहत एवं उम्मीदों के आसार नज़र आते हैं और फिर रोगी नीमबेहोशी में चला जाता है। और अब सितम्बर-अक्टूबर, 2008 में, लगभग दो वर्षों तक सबप्राइम संकट की मौजूदगी के बाद अमेरिका में वित्तीय ध्वंस के साथ ही विश्व वित्तीय तन्त्र के धराशायी होने और वास्तविक अर्थव्यवस्था में ठहराव का जो सिलसिला एक नयी विश्वव्यापी मन्दी के रूप में सामने आया है, उसने पूरी पूँजीवादी दुनिया में हड़कम्प मचा दिया है।

आर्थिक संकट का चक्र दो संकटों के बीच का समय होता है। इसमें आमतौर पर संकट, मन्दी, उबरने और आर्थिक उत्कर्ष या उभाड़ के चार दौर होते हैं। इनमें संकट का चरण बुनियादी है। यह पिछले संकट की समाप्ति और नये संकट का आरम्भ होता है।

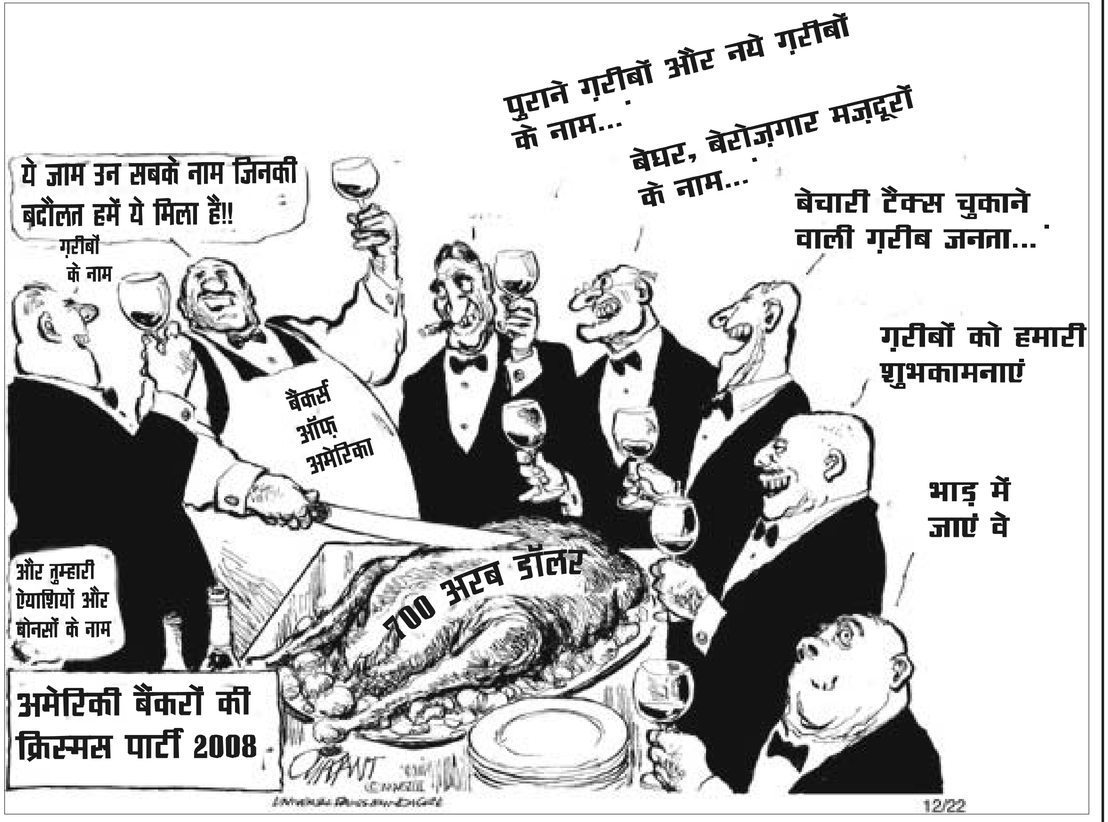

अमेरिका में बैंकों को मिले 700 अरब डॉलर के बेलआउट पैकेज पर एक पत्रिका में छपा कार्टून

नौकरी के लिए लाइन में खड़े मज़दूर

संकट का दौर : प्राय: संकट एकाएक धावा बोल देते हैं। उनके आगमन के पूर्व बाजार में चौतरफा कृत्रिम समृद्धि दिखाई देती है और विभिन्न उद्योगों में ''कारोबार फलता-फूलता'' रहता है। हालांकि उत्पादन वास्तविक जरूरतों को तो पहले ही पार कर चुका होता है, पर क्रेडिट सिस्टम और सट्टाबाजारी गतिविधियों के चलते आर्डर पूरे करने और गोदाम भरने के लिए कारखाने पूरी गति से चलते रहते हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की श्रृंखला की किसी एक कड़ी में विस्थापन के साथ अचानक एक आर्थिक संकट आ धमकता है। एक बार किसी एक क्षेत्र में अतिउत्पादन का पता चल जाता है और बिक्री मुश्किल हो जाती है, तो दूसरे क्षेत्र भी जल्दी ही प्रभावित होते हैं और 'चेन रिएक्शन' शुरू हो जाता है। उदाहरण के लिए, अतिउत्पादन के चलते ऑटोमोबाइल उद्योग में उत्पादन में कटौती या इसका निलम्बन अपरिहार्यत: कोयला, विद्युत ऊर्जा और परिवहन उद्योगों को प्रभावित करेगा। शुरू में कृत्रिम समृद्धि को बढ़ाने में मदद करने वाले वाणिज्यिक सट्टेबाज अब घटे दामों पर अपने माल को जल्दी-जल्दी बेचने लगते है जिससे स्थिति और बिगड़ जाती है। अब गोदाम क्षमता से अधिक भरे होते हैं, बिक्री मुश्किल हो जाती है और दाम तेजी से गिरते हैं। दामों में गिरावट रोकने के लिए पूंजीपति को भारी मात्रा में मालों को नष्ट करने का भी सहारा लेना पड़ता है। धीमी बिक्री और गिरते दामों की मार से बहुत से छोटे और मंझोले उद्योग एक साथ दिवालिया हो जाते हैं और कई बैंक बन्द हो जाते हैं। जो कारखाने चलते रहते हैं, वे अपने उत्पादन की दर कम कर देते हैं। इसी समय सभी उद्योगों के बेरोजगार मजदूरों की तादाद तेजी से बढ़ती है और पूरी आर्थिक स्थिति तेजी के साथ बिगड़ती चली जाती है।

मन्दी का दौर : संकट के दौर के तूफानी धावों के बाद औद्योगिक और वाणिज्यिक उद्यमों में दिवालिया होने का ज्वार थम जाता है। संकट झेलकर बच रहे उद्यम अपनी गतिविधियां पहले से कमतर पैमाने पर चलाते हैं। हालाँकि, दुकानें चमक-दमक से भरी दिखती हैं और उनके सेल्समेन जोर-शोर से चिल्लाते हैं, पर व्यापार निराशाजनक ही रहता है। बड़ी संख्या में मजदूर अब भी बेरोजगार रहते हैं। और उनके पास रोटी-रोजी का कोई जरिया नहीं होता। पूँजीवादी उद्योग, वाणिज्य और बैंकिंग व्यवसाय निराशा की स्थिति में रहते हैं। लेकिन, इस दौर में, सामाजिक उपभोग जारी रहता है। भारी नुकसान उठाने के बाद मालों के भंडार धीरे-धीरे, बहुत कम दामों पर बिकते हैं। निराशा की सतह के नीचे उत्पादन के संकट से उबरने को प्रोत्साहित करने वाले कारक धीरे-धीरे इकट्ठा होते रहते हैं।

उबरने का दौर : जमा हो गये मालों के भंडारों में कमी के साथ दाम धीरे-धीरे गिरावट से उबरने लगते हैं और मुनाफा क्रमश: बढ़ने लगता है। बहुत-सा माल तो नष्ट कर दिया जाता है या औने-पौने दामों पर बेचकर गोदाम खाली किये जाते हैं। पूंजीपति एक तरफ मजदूर का शोषण बढ़ा देते हैं, और दूसरी तरफ तकनीक सुधारते हैं तथा नये उपकरण खरीदते हैं। इस तरह, प्रथम श्रेणी के उद्योगों जैसे विद्युत ऊर्जा, लोहा-इस्पात और मशीन निर्माण में सबसे पहले उत्पादन का कदम-बा-कदम विस्तार होता है। इस श्रेणी में रोजगार धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और रोजगार में वृद्धि से उपभोक्ता सामग्रियों की मांग में भी वृद्धि होती है जो दूसरी श्रेणी में उत्पादन को बढ़ावा देती है। इस तरह उत्पादन क्रमश: उबरता है और बेरोजगारों की संख्या कम होती है। मन्दीग्रस्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था फिर से उबरने के रास्ते पर चल पड़ती है।

उभाड़ का दौर : बाजार में मालों की तेजी से बिक्री होती है, मुनाफा बढ़ जाता है, उत्पादन और विनिमय की गतिविधियाँ तेज होती हैं और क्रेडिट तथा सट्टाबाजारी गतिविधियाँ फिर से शुरू हो जाती हैं। बाजार में चौतरफा ''समृद्धि'' होती है। सभी पूंजीपति उत्पादन का विस्तार करने के लिए भरपूर जोर लगाते हैं। इस तरह व्यापक ''समृद्धि'' की सतह के नीचे एक और संकट के नये कारक लगातार एकत्र होते रहते हैं। **फ्रेडरिक एंगेल्स** ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की इस जीवन्त परिघटना का इस तरह वर्णन किया है : **''रफ्तार तेज हो जाती है; धीमे कदम तेज कदमों में बदल जाते हैं। औद्योगिक तेज कदम दौड़ते कदमों में बदल जाते हैं। दौड़ते कदम उद्योग, वाणिज्य, क्रेडिट और सट्टाबाजारी गतिविधियों की लंगड़ी दौड़ में फर्राटा बन जाते हैं। अन्त में, कई अन्तिम, बदहवास छलाँगों के बाद यह ध्वंस के रसातल में गिर पड़ते हैं।''**

संकट-मंदी-उबरना-उभाड़-संकट : पूँजीवादी उत्पादन इसी दुष्चक्र में घूमता रहता है। पूँजीवादी उत्पादन निरन्तर प्रगति नहीं कर सकता, बल्कि यह केवल एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर चल सकता है जिसमें बार-बार यह मुँह के बल गिरता रहता है और बहुत से इंसानों, परिवारों और प्राकृतिक संसाधनों की बलि चढ़ाने के बाद फिर खड़ा होता है। लेकिन हर आने वाला संकट पहले से ज़्यादा बड़ा और गंभीर होता है। और हर संकट पूँजीवाद की क़ब्र खोदने वाले वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग को इसके ख़िलाफ़ और कसकर खड़ा होने के लिए तैयार कर जाता है।

(अगले अंकों में जारी)

जनवाद के लिए सबसे आगे बढ़कर लड़ने वाले के रूप में मज़दूर वर्ग

लेनिन

हम देख चुके हैं कि अधिक से अधिक व्यापक राजनीतिक आन्दोलन चलाना और इसलिए सर्वांगीण राजनीतिक भण्डाफोड़ का संगठन करना गतिविधि का एक बिल्कुल ज़रूरी और **सबसे ज़्यादा तात्कालिक** ढंग से ज़रूरी कार्यभार है, बशर्ते कि यह गतिविधि सचमुच सामाजिक-जनवादी ढंग की हो। परन्तु हम इस नतीजे पर **केवल** इस आधार पर पहुँचे थे कि मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक ज्ञान की फ़ौरन ज़रूरत है। लेकिन यह सवाल को पेश करने का एक बहुत संकुचित ढंग है, कारण कि यह आम तौर पर हर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के और ख़ास तौर पर वर्तमान काल के रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के आम जनवादी कार्यभारों को भुला देता है। अपनी बात को और ठोस ढंग से समझाने के लिए हम मामले के उस पहलू को लेंगे, जो "अर्थवादियों" के सबसे ज़्यादा "नज़दीक" है, यानी हम व्यावहारिक पहलू को लेंगे। "हर आदमी यह मानता है" कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना को बढ़ाना ज़रूरी है। सवाल यह है कि यह काम **कैसे** किया जाये, इसे करने के लिए क्या आवश्यक है? आर्थिक संघर्ष मज़दूरों को केवल मज़दूर वर्ग के प्रति सरकार के रवैये से सम्बन्धित सवाल उठाने की "प्रेरणा देता है" और इसलिए हम "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की चाहे **जितनी भी कोशिश करें**, इस लक्ष्य की सीमाओं के अन्दर-अन्दर रहते हुए हम मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को **कभी नहीं उठा पायेंगे**, कारण कि **ये सीमाएँ बहुत संकुचित हैं**। मार्तीनोव का सूत्र हमारे लिए थोड़ा-बहुत महत्त्व रखता है, इसलिए नहीं कि उससे चीज़ों को उलझा देने की मार्तीनोव की योग्यता प्रकट होती है, बल्कि इसलिए कि उससे वह बुनियादी ग़लती साफ़ हो जाती है, जो सारे "अर्थवादी" करते हैं, अर्थात उनका यह विश्वास कि मज़दूरों की राजनीतिक वर्ग चेतना को उनके आर्थिक संघर्ष के **अन्दर से** बढ़ाया जा सकता है, अर्थात इस संघर्ष को एकमात्र (या कम से कम मुख्य) प्रारम्भिक बिन्दु मानकर, उसे अपना एकमात्र (या कम से कम मुख्य) आधार बनाकर राजनीतिक वर्ग चेतना बढ़ायी जा सकती है। यह दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर ग़लत है। "अर्थवादी" लोग उनके ख़िलाफ़ हमारे वाद-विवाद से नाराज़ होकर इन मतभेदों के मूल कारणों पर गम्भीरतपूर्वक विचार करने से इन्कार करते है, जिसका यह परिणाम होता है कि हम एक-दूसरे को क़तई नहीं समझ पाते, दो अलग-अलग ज़बानों में बोलते हैं।

मज़दूरों में राजनीतिक वर्ग चेतना **बाहर से ही** लायी जा सकती है, यानी केवल आर्थिक संघर्ष के बाहर से, मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्धों के क्षेत्र के बाहर से। वह जिस एकमात्र क्षेत्र से आ सकती है, वह राज्यसत्ता तथा सरकार के साथ **सभी** वर्गों तथा स्तरों के सम्बन्धों का क्षेत्र है, वह **सभी** वर्गों के आपसी सम्बन्धों का क्षेत्र है। इसलिए इस सवाल का जवाब कि मज़दूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए क्या करना चाहिए, केवल यह नहीं हो सकता कि "मज़दूरों के बीच जाओ" – अधिकतर व्यावहारिक कार्यकर्ता, विशेषकर वे लोग, जिनका झुकाव "अर्थवाद" की ओर है, यह जवाब देकर ही सन्तोष कर लेते हैं। **मज़दूरों** तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को **आबादी के सभी वर्गों के बीच जाना** चाहिए और अपनी सेना की टुकड़ियों को **सभी दिशाओं में** भेजना चाहिए।

हमने इस बेडौल सूत्र को जानबूझकर चुना है, हमने जानबूझकर अपना मत अति सरल, एकदम दो-टूक ढंग से व्यक्त किया है – इसलिए नहीं कि हम विरोधाभासों का प्रयोग करना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि हम "अर्थवादियों" को वे काम करने की "प्रेरणा देना" चाहते हैं, जिनको वे बड़े अक्षम्य ढंग से अनदेखा कर देते हैं, हम उन्हें ट्रेडयूनियनवादी राजनीति और सामाजिक-जनवादी राजनीति के बीच अन्तर देखने की "प्रेरणा देना" चाहते हैं, जिसे समझने से वे इन्कार करते हैं। अतएव हम पाठकों से यह प्रार्थना करेंगे कि वे झुँझलायें नहीं, बल्कि अन्त तक ध्यान से हमारी बात सुनें।

पिछले चन्द बरसों में जिस तरह का सामाजिक-जनवादी मण्डल सबसे अधिक प्रचलित हो गया है, उसे ही ले लीजिये और उसके काम की जाँच कीजिये। "मज़दूरों के साथ उसका सम्पर्क" रहता है और वह इससे सन्तुष्ट रहता है, वह परचे निकालता है, जिनमें कारख़ानों में होनेवाले अनाचारों, पूँजीपतियों के साथ सरकार के पक्षपात और पुलिस के ज़ुल्म की निन्दा की जाती है। मज़दूरों की सभाओं में जो बहस होती है, वह इन विषयों की सीमा के बाहर कभी नहीं जाती या जाती भी है, तो बहुत कम। ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास के बारे में, हमारी सरकार की घरेलू तथा वैदेशिक नीति के प्रश्नों के बारे में, रूस तथा यूरोप के आर्थिक विकास की समस्याओं के बारे में और आधुनिक समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति के बारे में भाषणों या वाद-विवादों का संगठन किया जाता है। और जहाँ तक समाज के अन्य वर्गों के साथ सुनियोजित ढंग से सम्पर्क स्थापित करने और बढ़ाने की बात है, उसके बारे में तो कोई सपने में भी नहीं सोचता। वास्तविकता यह है कि इन मण्डलों के अधिकतर सदस्यों की कल्पना के अनुसार आदर्श नेता वह है, जो एक समाजवादी राजनीतिक नेता के रूप में नहीं, बल्कि ट्रेडयूनियन के सचिव के रूप में अधिक काम करता है, क्योंकि हर ट्रेडयूनियन का, मिसाल के लिए, किसी ब्रिटिश ट्रेडयूनियन का सचिव आर्थिक संघर्ष चलाने में हमेशा मज़दूरों की मदद करता है, वह कारख़ानों में होनेवाले अनाचारों का भण्डाफोड़ करने में मदद करता है, उन क़ानूनों तथा पगों के अनौचित्य का पर्दाफ़ाश करता है, जिनसे हड़ताल करने और धरना देने (हर किसी को यह चेतावनी देने के लिए कि अमुक कारख़ाने में हड़ताल चल रही है) की स्वतन्त्रता पर आघात होता है, वह मज़दूरों को समझाता है कि पंच-अदालत का जज, जो स्वयं बुर्जुआ वर्गों से आता है, पक्षपातपूर्ण होता है, आदि, आदि। सारांश यह कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" ट्रेडयूनियन का प्रत्येक सचिव चलाता है और उसके संचालन में मदद करता है। पर इस बात को हम जितना ज़ोर देकर कहें थोड़ा है कि **बस इतने ही से** सामाजिक-जनवाद **नहीं** हो जाता, कि सामाजिक-जनवादी का आदर्श ट्रेडयूनियन का सचिव नहीं, बल्कि एक ऐसा **जन-नायक** होना चाहिए, जिसमें अत्याचार और उत्पीड़न के प्रत्येक उदाहरण से, वह चाहे किसी भी स्थान पर हुआ हो और उसका चाहे किसी भी वर्ग या स्तर से सम्बन्ध हो, विचलित हो उठने की क्षमता हो; इसमें इन तमाम उदाहरणों का सामान्यीकरण करके पुलिस की हिंसा तथा पूँजीवादी शोषण का एक अविभजय चित्र बनाने की क्षमता होनी चाहिए; उसमें प्रत्येक घटना का, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, लाभ उठाकर अपने समाजवादी विश्वासों तथा अपनी जनवादी माँगों को **सभी लोगों** को समझा सकने और **सभी लोगों** को सर्वहारा के मुक्ति-संग्राम का विश्व-ऐतिहासिक महत्त्व समझा सकने की क्षमता होनी चाहिए।

(‘क्या करें’ से)

मेट्रो मज़दूरों के अधिकारों पर मेट्रो प्रशासन का नया फासीवादी हमला

कर्मचारियों को बुनियादी मानवाधिकारों-जनतांत्रिक अधिकारों से वंचित करता डीएमआरसी का नया सर्कुलर

(पेज 1 से आगे)

से अनुमति लेनी होगी। कोई भी अन्याय, भ्रष्टाचार या गड़बड़ी होने पर कर्मचारी के पास सिर्फ़ यह अधिकार होगा कि वह डी.एम.आर.सी. के सतर्कता विभाग में शिकायत कर सके। यानी मेट्रो प्रशासन के ख़िलाफ़ मेट्रो प्रशासन से ही शिकायत करनी होगी! यानी गवाह भी मेट्रो प्रशासन, वकील भी मेट्रो प्रशासन और जज भी मेट्रो प्रशासन! ऐसे में मज़दूरों के साथ होने वाले अन्याय पर क्या न्याय होगा यह खुद ही समझा जा सकता है। यानी, कर्मचारी न मीडिया में जा सकता है, न ही वह किसी उपयुक्त सरकारी विभाग में शिकायत कर सकता है, और सबसे बड़ी बात कि वह न्याय पाने के लिए न्यायालय में भी नहीं जा सकता है।

डी.एम.आर.सी. पहले से ही इस बात पर अड़ा हुआ है कि वह किसी भी यूनियन को मान्यता नहीं देगा और इसके लिए कारण बताया गया है कि अनुशासन बरकरार रखने के लिए यह आवश्यक है। लेकिन भारतीय क़ानून और संविधान हर उपक्रम के मज़दूरों को यूनियन बनाने और संगठित होने का अधिकार देता है और इस अधिकार को डी.एम.आर.सी. छीन नहीं सकता है।

स्पष्ट है कि यह एक फ़ासीवादी सर्कुलर है जिसका मक़सद मज़दूरों को गुलाम और काम करने वाली मशीन बना देना है। मेट्रो प्रबन्धन के ख़िलाफ़ कोई मज़दूर आवाज़ नहीं उठा सकता है। अगर उसे मेट्रो प्रबन्धन की निष्पक्षता पर यक़ीन न हो तो वह कहीं नहीं जा सकता क्योंकि उसके न्यायालय जाने पर भी रोक लगा दी गयी है। अपने अधिकारों के वास्ते संघर्ष के लिए उसके एकजुट होने और यूनियन बनाने पर भी रोक है। यह मामला सिर्फ़ श्रमिक अधिकारों का नहीं है। हर श्रमिक एक नागरिक भी होता है। और इस नये सर्कुलर में मेट्रो प्रशासन ने हर उस अधिकार को छीन लिया है जिसका वह एक नागरिक के रूप में हक़दार है। न्यायालय में जाने से रोक लगाने का निर्देश ही असंवैधानिक है क्योंकि यह एक नागरिक को उसके प्राकृतिक न्याय के अधिकार से वंचित करता है। यूनियन बनाने से रोकने या उसे मान्यता न देने का मेट्रो का निर्णय भी ग़ैर-क़ानूनी है क्योंकि क़ानूनन यह हर उपक्रम के मज़दूरों का हक़ है। मेट्रो में चल रहे अन्याय या भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ किसी भी ऐसे सरकारी विभाग में जाने पर भी रोक लगा दी गयी है जो ऐसी शिकायतों को सुनने का अधिकार रखता है। यह रोक भी ग़ैर-क़ानूनी है क्योंकि यह उन सभी सरकारी विभागों के औचित्य और अस्तित्व पर ही प्रश्न खड़े करती है जिनका काम ही श्रमिकों की शिकायतों को सुनना और औद्योगिक विवादों का निपटारा है, मिसाल के तौर पर, श्रमायुक्त कार्यालय। ऐसे में सरकार को यह बताना पड़ेगा कि ये कार्यालय आख़िर हैं किसलिए?

इस सर्कुलर में मज़दूरों को उनके निजी जीवन की नैतिकता पर भी उपदेश दिया गया है और आदेश देकर बताया गया है कि वे निजी जीवन में क्या करें और क्या नहीं। यह भी एक नागरिक के निजी जीवन में अवांछित हस्तक्षेप है। ज़ाहिर है कि पूरी भाषा ही फ़ासीवादी दौर के जर्मनी और इटली की याद दिलाती है जिसमें मज़दूरों के जीवन के हरेक पहलू को नियन्त्रित किया जाता था और उनके हर अधिकार को कुचल दिया जाता था। मेट्रो प्रबन्धन भी उन्हीं फ़ासीवादियों के पद-चिन्हों पर चलने का प्रयास कर रहा है। लगता है वह भूल गया है कि इतिहास में ऐसे फ़ासीवादियों का क्या हश्र हुआ है।

इस सर्कुलर के ज़रिये मेट्रो प्रशासन ने अपने मज़दूरों और कर्मचारियों पर शिकंजा कसते हुए उन्हें प्रत्येक जनवादी और श्रम अधिकारों से वंचित करने की एक असंवैधानिक और ग़ैर-क़ानूनी कोशिश की है। यह एक ग़ैर-जनतान्त्रिक फ़ासीवादी क़दम है। **इस सर्कुलर के पीछे की मंशा एकदम साफ़ है। इसका मक़सद है कि मज़दूरों के मुँह पर ताला लगाकर और उनके सभी अधिकार उनसे छीनकर उन्हें गुलामों की तरह खटाया जाये और उन्हें काम करने वाली मशीन में तब्दील कर दिया जाये।** मज़दूरों से यह कहा गया है कि वह मेट्रो सतर्कता विभाग में ही शिकायत कर सकते हैं। और यदि शिकायत सतर्कता विभाग के ही अधिकारी के ख़िलाफ़ हो तो? या मेट्रो में क़ानूनों के उल्लंघन और भ्रष्टाचार पर हो तो? क्या मेट्रो अपनी धाँधली की शिकायत पर स्वयं सुनवाई करेगा? यह तो अच्छा मज़ाक़ है!

असलियत यह है कि मेट्रो प्रशासन मज़दूरों से डर गया है। मज़दूरों की सोई हुई ताक़त के जाग उठने के ख़याल से मेट्रो प्रबन्धन को बुरे सपने आने लगे हैं। ज्ञात हो कि पिछले तीन-चार महीनों से मेट्रो के सफ़ाई-कर्मियों ने अपने अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष की शुरुआत की है। इससे पूरा मेट्रो प्रशासन भयाक्रान्त है और उसे डर है कि आज़ादी और हक़ों की यह लड़ाई मेट्रो के अन्य मज़दूरों तक न पहुँच जाये। इसलिए वह अपने आपको तमाम हिटलरशाही वाले नियम-क़ानूनों से पहले ही चाक-चौबन्द कर लेना चाहता है। मज़दूरों की नाक में नकेल डालकर उनसे पशुओं की तरह काम कराये जाने का प्रयास हो रहा है। मेट्रो प्रशासन इसीलिए हर आवाज़ को दबा देना चाहता है और हर अधिकार को कुचल डालना चाहता है। **यह सर्कुलर इसी की मिसाल है जो स्वयं ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक है।**

यूनियन बनाने से लेकर आठ घण्टे काम के दिन और न्यूनतम मज़दूरी तक का अधिकार मज़दूरों ने बेहद संघर्ष और कुर्बानियों के बाद हासिल किया है। देश का संविधान और क़ानून ये अधिकार देता है और इन्हें छीनने का हक़ किसी के पास नहीं है। इनका हर स्तर पर पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए। यह सिर्फ़ मेट्रो के कामगारों का सवाल नहीं है। जनतांत्रिक अधिकारों के हनन का यह सिलसिला सिर्फ़ मज़दूरों तक ही नहीं रुकने वाला है। आज वैश्विक मन्दी के दौर में राजनीतिक जनवाद और अधिकारों का तेज़ी से क्षरण हो रहा है और जल्द ही मध्यवर्ग के तमाम दायरे भी इसकी चपेट में आयेंगे। अगर आज इस का विरोध नहीं किया गया तो यह एक ख़तरनाक नज़ीर बन जायेगी। हमें हिटलर के दौर में जर्मनी के कवि पास्टर निमोलर की इन पंक्तियों को कभी नहीं भूलना चाहिए :

पहले वे यहूदियों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था।
फिर वे कम्युनिस्टों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नहीं था।
फिर वे ट्रेडयूनियन वालों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं ट्रेडयूनियन में नहीं था।
फिर वे मेरे लिए
और तब कोई नहीं था
जो मेरे लिए बोलता।

स्त्री मुक्ति के संघर्ष को सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के व्यापक संघर्ष से जोड़ना होगा!

(पेज 1 से आगे)

दिवस के रूप में पूरी दुनिया में मनाया जाय। इस प्रस्ताव को एकमत से स्वीकार किया गया और तब से पूरी दुनिया में 8 मार्च को अन्तराष्ट्रीय महिला दिवस के तौर पर मनाया जा रहा है।

लेकिन आज 8 मार्च की इस क्रान्तिकारी विरासत को धूमिल करने और उसे महज़ एक त्योहार में बदल देने की कोशिशें की जा रही हैं। तमाम कम्पनियाँ इस दिन मध्यवर्गीय महिलाओं को लुभाने के लिए कॉस्मेटिक्स से लेकर कपड़ों-गहनों तक के विज्ञापन परोसती रही हैं। लेकिन कम्पनियों और पूँजीवादी मीडिया की ही क्यों बात की जाये, बहुतेरे स्त्री संगठन भी इस मौके पर कुछ रस्मी कवायदें करके छुट्टी पा लेते हैं। स्त्री मुक्ति के संघर्षों को ऐसे अनुष्ठानवाद के दायरे से बाहर निकालना ज़रूरी है। अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के मौके पर कुछेक कार्यक्रम कर लेने भर से कुछ नहीं होने वाला। साथ ही स्त्री आन्दोलन को मध्यवर्गीय दायरे से बाहर निकालकर करोड़ों मेहनतकश स्त्रियों के बीच ले जाना होगा। भारत जैसे गरीब देशों की मेहनतकश स्त्रियाँ मीडिया की निगाहों से ही नहीं, आम रोज़मर्रा के जीवन से भी मानो अनुपस्थित होती जा रही हैं। उन्हें देखना हो तो वहाँ चलना होगा जहाँ वे देशभर में फैले एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग ज़ोनों की फैक्टरियों में सुबह से शाम तक 12-12 घंटे खट रही हैं, छोटे-छोटे कमरों में माइक्रोस्कोप पर निगाहें गड़ाये सोने के सूक्ष्म तारों को सिलिकॉन चिप्स से जोड़ रही हैं, निर्यात के लिए सिले-सिलाए वस्त्र तैयार करने वाली फैक्टरियों में कटाई-सिलाई कर रही हैं, खिलौने तैयार कर रही हैं या फूड प्रोसेसिंग के काम में लगी हुई हैं, इसके अलावा वे बहुत कम पैसे पर स्कूलों में पढ़ा रही हैं, टाइपिंग कर रही हैं, करघे पर काम कर रही हैं, सूत कात रही हैं और पहले की तरह बदस्तूर खेतों में भी खट रही हैं। महानगरों में वे दाई-नौकरानी का भी काम कर रही हैं और 'बार मेड' का भी। और यह सब कुछ करने के बाद भी घर और बच्चे भी सँभाल रही हैं।

सस्ता होने के कारण स्त्रियों के श्रम को तमाम कम्पनियाँ और कारपोरेशन बुरी तरह निचोड़ रहे है; पूँजी की गुलामी का शिकार तो स्त्री और पुरुष दोनों ही हैं लेकिन स्त्रियों को पूँजी की गुलामी के साथ-साथ पितृसत्तात्मक उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। सड़क से लेकर घर तक उसे अपमान और दमन-उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। स्त्रियों की एक विशाल आबादी तमाम पूँजीवादी आधुनिकता आ जाने के बावजूद चूल्हे-चौखट में ही कैद है। जो स्त्रियाँ बाहर निकल रही हैं और काम कर रही हैं उन्हें भी पूँजी के शोषण के अतिरिक्त असुरक्षा और अपमान के माहौल में जीना पड़ता है।

ऐसे में यह सोचने का मुद्दा है कि स्त्रियों की मुक्ति का रास्ता आखिर क्या होगा? स्त्री मुक्ति के संघर्ष को शहरी शिक्षित उच्च मध्यवर्गीय कुलीनतावादी दायरे के बाहर लाना होगा। हमें स्त्री मुक्ति के नाम पर स्त्री मुक्ति के आन्दोलन को महज़ स्त्री की पहचान की लड़ाई तक सीमित कर देने वाली एनजीओ संगठनों की घातक राजनीति के खिलाफ भी संघर्ष करना होगा। संसदीय वामपंथी पार्टियों से जुड़े स्त्री संगठनों ने तो मुख्य माँग संसद विधानसभाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण को बना दिया है। हम समझते हैं कि यह स्त्री आन्दोलन को भी संसदीय राजनीति के नरककुण्ड में समेट देने की एक साज़िश के सिवा कुछ नहीं है। इसका मतलब संसद को जनता के एक वास्तविक मंच के रूप में मान्यता दिलाना होगा जबकि सच यह है कि संसद और विधानसभाएँ पूरी तरह लुटेरों, अपराधियों, और इस पूँजीवादी व्यवस्था के खाँटी सेवकों का अड्डा बन चुकी हैं। आज पूँजीवादी जनवाद की जो हालत है उसमें अगर कुछ और महिलाओं को पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि बनने का मौका मिल ही गया तो इससे देश की बहुसंख्यक स्त्री आबादी के जीवन पर क्या असर पड़ेगा? एक समय था जब जनवादी अधिकारों की लड़ाई में स्त्रियों को बुर्जुआ चुनाव में वोट देने और चुनाव लड़ने के अधिकार की माँग एक बुनियादी माँग थी। लेकिन आज दुनिया उससे बहुत आगे बढ़ चुकी है। आज इस माँग का मतलब आधी आबादी के बीच संसदीय जनतंत्र के बारे में भ्रम पैदा करना होगा। अगर पूँजीवादी सत्ता अपने कारणों से यह कानून लागू करे तो हम उसका विरोध नहीं करेंगे लेकिन स्त्री आन्दोलन को इस सवाल तक महदूद रखने के हम सख्त ख़िलाफ़ हैं।

इसे पश्चिमी देशों के उदाहरण से समझा जा सकता है। अधिकांश पश्चिमी देशों में कानूनी तौर पर बहुतेरे बुनियादी नागरिक अधिकार हासिल कर लेने के बावजूद वास्तव में आज तक स्त्रियों को सामाजिक समानता प्राप्त नहीं हैं। वे दोयम दर्जे की नागरिक हैं। काम करने वाली औरतें वहाँ भी असंगठित क्षेत्र में सस्ता श्रम बेचने को बाध्य हैं और निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम हैं। मुख्यत: मध्यम वर्ग और अन्य सम्पत्तिशाली वर्गों की स्त्रियाँ और सामान्यत: सभी स्त्रिया वहाँ घरेलू दासता से पूर्णत: मुक्त नहीं हो सकी हैं। जीवन के हर क्षेत्र में उन्हें आर्थिक शोषण के साथ ही यौन-उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। धार्मिक मूल्यों-मान्यताओं के साथ ही, तरह-तरह की फासिस्ट प्रवृत्तियों और साथ ही बीमार बुर्जुआ संस्कृति का दबाव भी उन्हें ही सबसे अधिक झेलना पड़ता है। अभी भी गर्भपात और तलाक से लेकर बलात्कार तकख़्बहुत सारे मामलों में, पश्चिमी देशों में कानून स्त्रियों के प्रति भेदभावपूर्ण बने हुए हैं। दूसरी बात यह कि पश्चिम की स्त्रियों ने जो भी अधिकार हासिल किये हैं, वह उन्हें बुर्जुआ समाज ने तोहफे के तौर पर नहीं दिये हैं। ये अधिकार सामाजिक क्रान्तियों, वर्ग-संघर्षों और नारी समुदाय के शताब्दियों लम्बे संघर्ष से हासिल हुए हैं।

दुनिया में केवल मज़दूर वर्ग के राज में ही स्त्रियों को वास्तविक समानता हासिल हुई है। 1917 में रूस में अक्टूबर क्रान्ति के बाद मानव इतिहास में पहली बार कोई ऐसी राज्यसत्ता अस्तित्व में आई, जिसने औरतों को हर मायने में समान अधिकार दिये। समान सुविधाओं के अतिरिक्त हर क्षेत्र में समान काम के अवसर, समान काम के लिए समान वेतन, समान सामाजिक-राजनीतिक अधिकार, विवाह और तलाक के सम्बन्ध में बराबर अधिकार, अतीत में वेश्यावृत्ति जैसे पेशों के लिए विवश औरतों का सामाजिक पुनर्वास आदि अनेक कदम उठाकर रूस की समाजवादी सरकार ने एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम किया। समाजवादी निर्माण के पूरे दौर में, नारी मुक्ति के क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी अभूतपूर्व थीं। पिछड़े हुए रूसी समाज में क्रान्ति के बाद के चार दशकों में उत्पादन, सामाजिक-राजनीतिक कार्रवाइयों, सामरिक मोर्चे और बौद्धिक गतिविधियों के दायरे में जितनी तेजी से औरतों की हिस्सेदारी बढ़ी, वह रफ्तार जनवादी क्रान्तियों के बाद यूरोप-अमेरिका के देशों में पूरी दो शताब्दियों के दौरान कभी नहीं रही थी। चन्द-एक दशकों में ही सोवियत समाज से यौन अपराध और यौन रोगों का पूरी तरह खात्मा हो गया, इस तथ्य को पश्चिम के मीडिया ने भी स्वीकार किया था। चीन में भी क्रान्ति के बाद ऐसा ही हुआ था। लेकिन सभी भूतपूर्व समाजवादी देशों में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के साथ ही पूँजीवादी समाज की तमाम बुराइयाँ तेज़ी से लौट आयी हैं।

कई लोग पूँजीवाद द्वारा लायी गयी आधुनिकता को ही स्त्री मुक्ति मान बैठते हैं। यह एक बड़ी भूल है। यह एक कृत्रिम मुक्ति होती है और वास्तव में स्त्री की गुलामी को नये रूप में स्थापित करती है पूँजीवाद स्त्रियों को घर की चौखट से थोड़ा बाहर निकालता भी है तो केवल उन्हें माल बना डालने और उनके सस्ते श्रम को निचोड़ने के लिए।

पूँजी और पितृसत्ता की सत्ताएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। पुरुष वर्चस्ववाद के सामन्ती मूल्यों को पूँजीवाद ने अपना लिया है। स्त्रियों की असमान स्थिति और पितृसत्ता का वह अपने लिए इस्तेमाल करता है। आधी आबादी को परिवर्तन के संघर्ष से अलग रखने के लिए भी ज़रूरी है कि पुरुषों और स्त्रियों के बीच समानता के मूल्यों और उसूलों को बढ़ावा न दिया जाये। पितृसत्ता के खिलाफ कोई भी लड़ाई पूँजीवाद विरोधी लड़ाई से अलग रहकर सफल नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भी सही है कि आधी आबादी की भागीदारी के बिना मज़दूर वर्ग भी अपनी मुक्ति की लड़ाई नहीं जीत सकता।

"स्त्रियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता हासिल किये बिना सर्वहारा वर्ग अपनी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं हासिल कर सकता।" –लेनिन

कात्यायनी की दो कविताएँ

अपराजिता

(सृष्टिकर्ता ने नारी को रचते समय बिस्तर, घर, ज़ेवर, अपवित्र इच्छाएँ, ईर्ष्या, बेईमानी और दुर्व्यवहार दिया। – मनु)

हाँ
उन्होंने यही
सिर्फ़ यही दिया हमें
अपनी वहशी वासनाओं की तृप्ति के लिए
दिया एक बिस्तर,
जीवन घिसने के लिए, राख होते रहने के
लिए
चौका-बरतन करने के लिए बस एक घर,
समय-समय पर
नुमाइश के लिए गहने पहनाये,
और हमारी आत्मा को पराजित करने के
लिए
लाद दिया उस पर तमाम अपवित्र इच्छाओं
और दुष्कर्मों का भार।
पर नहीं कर सके पराजित वे
हमारी अजेय आत्मा को
उनके उत्तराधिकारी
और फिर उनके उत्तराधिकारियों के
उत्तराधिकारी भी
नहीं पराजित कर सके जिस तरह
मानवता की अमर-अजेय आत्मा को,
उसी तरह नहीं पराजित कर सके वे
हमारी अजेय आत्मा को
आज भी वह संघर्षरत है
नित-निरन्तर
उनके साथ
जिनके पास खोने को सिर्फ़ ज़ंजीरें ही हैं
बिल्कुल हमारी ही तरह!

वह रचती है जीवन और...

(नारी की रचना इसलिए हुई है कि पुरुष अपने पुत्रों, देवताओं से वंश चला सके। – ऋग्वेद संहिता)

नारी की रचना हुई मात्र वंश चलाने के लिए,
जीवन को रचने के लिए
– उन्होंने कहा चार हज़ार वर्षों पहले
नये समाज-विधान की रचना करते हुए।
पर वे भूल गये कि
नहीं रचा जा सकता कुछ भी
बिना कुछ सोचे हुए।
जो भी कुछ रचता है – वह सोचता है।
वह रचती है
जीवन
और जीवन के बारे में सोचती है लगातार।
सोचती है –
जीवन का केन्द्रबिन्दु क्या है
सोचती है –
जीवन का सौन्दर्य क्या है
सोचती है –
वह कौन-सी चीज़ है
जिसके बिना सब कुछ अधूरा है
प्यार भी, सौन्दर्य भी, मातृत्व भी...
सोचती है वह
और पूछती है चीख़-चीख़कर।
प्रतिध्वनि गूँजती है
घाटियों में मैदानों में
पहाड़ों से, समुद्र की ऊँची लहरों से
टकराकर
आज़ादी! आज़ादी!! आज़ादी!!!

नताशा – एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता

एक संक्षिप्त जीवनी (तीसरी क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोइलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। इस अंक से हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। – सम्पादक

पुलिस से बचने के लिए खार्कोव में रहते हुए नताशा लुगान्स्क पार्टी संगठन के साथ पत्र-व्यवहार करती थीं, बेशक नाम बदलकर और अपने पत्र मित्रों के पते पर मँगाकर। वोरोशिलोव (वोलोद्या), जो तत्काल बाद लुगान्स्क लौट आये थे, ने नताशा को एक पत्र लिखा, जिसे ओखराना ने पकड़ लिया और उसका चित्र उतार लिया (एक प्रति पुलिस विभाग के रिकार्ड में रख ली गयी)। पत्र में उन्होंने लिखा :

"मेरी राय में आपका यहाँ आना अत्यन्त ख़तरनाक होगा, क्योंकि एकिम इवानोविच के घर पर छापा पड़ा है। उसने कहा है कि जो किताबें उसके घर से मिली हैं वे आपने उसे दी थीं। पुलिस आपको भूली नहीं है, जैसाकि मैं साबित कर सकता हूँ। हमारे घर पर हर समय निगरानी रखी जा रही है, हम सन्देह के दायरे में हैं, इसलिए आप तुरन्त पकड़ ली जायेंगी"

लुगान्स्क न लौट पाने के कारण नताशा बुरी तरह निराश थीं। उन्हें मज़दूर वर्ग का दूसरा केन्द्र तलाशना पड़ा जहाँ जाकर वह अपना काम जारी रख सकें। वह कुछ समय के लिए मास्को गयीं और उसके बाद बाकू चली गयीं। वह तेल उद्योग का विशाल केन्द्र था। बाकू में डोन्बास और एकातेरिनोस्लाव के धातु उद्योग की तरह पूँजीवाद विकास के उच्चतर स्तर पर पहुँच चुका था। लेकिन यहाँ, तेल उद्योग के इस केन्द्र में, जो ज़ारशाही साम्राज्यवाद की महत्त्वपूर्ण नस था और मालिकों को ज़बरदस्त मुनाफ़ा देता था, उस सम्पदा का उत्पादन करने वाला सर्वहारा अत्यन्त दयनीय हालात में जी रहा था और यह भी तब जबकि बाकू के लिए क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कोई नयी चीज़ नहीं थीं और बाकू के सर्वहारा ने मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी इतिहास में बहुत-से वीरतापूर्ण अध्याय जोड़े थे।

बाकू की एक विशेषता यह थी कि वहाँ सत्रह राष्ट्रीयताओं के मज़दूर थे, जो सभी अलग-अलग भाषाएँ बालते थे। बोल्शेविकों और मेंशेविकों के अलावा वहाँ कई अन्य राष्ट्रीय पार्टियाँ भी थीं। मेहनतकश वर्ग के हितों के साथ मेंशेविकों के ग़द्दारी करने के कारण बोल्शेविकों और मेंशेविकों के बीच टकराव असाधारण रूप से तीखा हो गया था।

पार्टी कार्य और जीवन के हालात अत्यन्त जटिल और कठिन हो गये थे। तेल के क्षेत्र एक-दूसरे से और बाकू से बहुत दूर-दूर तक बिखरे हुए थे। मज़दूरों के अध्ययन मण्डल चलाने के लिए शाम के वक़्त पैदल चलने में ख़तरा रहता था। तेल के डेरिकों पर आग लगाने वालों की निगरानी के लिए पहरेदार लगे रहते थे। पूरा इलाक़ा अँधेरा और सुनसान था। किसी राहगीर को गोली या चाकू मार दिया जाना असामान्य घटना नहीं थी।

नताशा को कई बार बहुत ही कष्टदायी अनुभव हुए। रेल कर्मियों के ज़िले में चेर्नी गोरोडोक में मज़दूरों के एक अध्ययन मण्डल में जाते समय कुछ औरतों ने गालियाँ देते हुए उनका पीछा किया : "तुम.... तुम हमारे पतियों को हमसे छीन लेना चाहती हो! हम तुम्हें दिखा देंगी....!"

उन समय नताशा, और आम तौर पर पूरी पार्टी को, औरतों द्वारा डाली जाने वाली बाधा का सामना करना पड़ रहा था। कुछ कॉमरेडों ने यह राय ज़ाहिर की है कि अनपढ़ औरतों की यह और इसी तरह की अन्य मूर्खतापूर्ण घटनाएँ थीं जिन्होंने नताशा को औरतों के बीच काम करने को उकसाया, जिस क्षेत्र में वे एक महान राजनीतिक हस्ती बन गयीं। उनका नाम संगठनकर्ताओं की पहली क़तार में आता है – लाखों कामकाजी औरतों और किसान औरतों के नेताओं में जिन औरतों ने सत्ता के संघर्ष और समाजवाद के निर्माण में मज़दूर वर्ग की क़तारों को मज़बूती प्रदान की।

'प्रावदा' में काम

काली प्रतिक्रिया के साल शुरू हो गये। 1909 में, पहली मार्च को नताशा फिर गिरफ़्तार कर ली गयीं और लगभग साल भर के लिए जेल में डाल दी गयीं। लेकिन ज़ारवादी अधिकारियों ने उनके ख़िलाफ़ इतना लचर मामला बनाया था कि ज़ारशाही की अदालत ने ही उन्हें रिहा कर दिया। उन कठिन दिनों में नताशा सन्देह या झिझक से एकदम परे थीं। सेण्ट पीटर्सबर्ग के जीवन ने रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्रुत पुनर्जन्म में नताशा की अडिग आस्था की पुष्टि कर दी।

दिसम्बर 1912 में नताशा ने बोल्शेविकों के लड़ाकू दल में ज़िम्मेदारी का एक पद ग्रहण किया। वी. एम. मालोतोव की गिरफ़्तारी के बाद उन्होंने *प्रावदा* के सम्पादक मण्डल में सचिव का पदभार सम्हाला। *प्रावदा* में काम करने वाले कॉमरेड इस पद पर उनकी गतिविधियों के बारे में इस प्रकार बताते हैं :

"कॉमरेड समोइलोवा हमारे सम्पादकीय दल से 1913 में जुड़ीं। वह सम्पादक मण्डल की सचिव थीं और अथक ऊर्जा से भरी कार्यकर्ता थीं। उन्होंने बहुत-से लेख स्वयं ही लिखे जिनमें से कई बिना नाम के थे और अन्य छद्म नाम से लिखे गये थे। हालाँकि उनकी शैली एकरस थी लेकिन उनके लेख इस तरह लिखे गये होते थे कि आम पाठक क़तारों को आसानी से समझ में आ जाते थे और सर्वहारा के जीवन और संघर्ष में उठने वाले सवालों का जवाब देते थे।

लेकिन लेखन कार्य और सम्पादक मण्डल के काम में हाथ बँटाना *प्रावदा*में कॉमरेड समोइलोवा के काम का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा नहीं था। उनके सचिव के काम से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था उनका लिपिकीय कार्य। उस समय मज़दूरों का अख़बार एकमात्र साधन था जिसमें फ़ैक्टरियों में काम करने वाले मज़दूरों की आवाज़ और उनकी भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती थीं। सैकड़ों मज़दूर अख़बार में पत्र भेजते थे और स्वयं उसके सम्पादकीय कार्यालय में आते थे।

साधारण-सा सम्पादकीय कार्यालय मधुमक्खी के छत्ते की तरह था। वहाँ मज़दूरों का रेला-सा पहुँचता था : हड़ताली फ़ैक्टरियों के प्रतिनिधि, ट्रेडयूनियनों, बेनेफिट सोसाइटियों और मज़दूर क्लबों के प्रतिनिधि अपने काम और जीवन के हालात के बारे में बताने के लिए वहाँ आते थे। फ़ैक्टरियों में होने वाली मज़दूर सभाएँ "हमारे प्यारे *प्रावदा* " के लिए छोटी-छोटी रक़में इकट्ठा करती थीं।

मज़दूर-कवि अपनी कविताओं की समीक्षा के लिए और यह जानने के लिए कि वे छपेंगी या नहीं, बेसब्री से इन्तज़ार करते थे। मज़दूर दादागीरी करने वाले किसी फ़ोरमैन, निदेशक या प्रबन्धक की शिकायत करने के लिए वहाँ इस तरह आते थे जैसे कि वह कोई शिकायत ब्यूरो हो या मालिकों के ख़िलाफ़ मज़दूरों के अधिकारों की रक्षा करने के बारे में सलाह लेने के लिए आते थे। वे अपनी पारिवारिक तकलीफ़ों और अपने पैतृक गाँवों के विवाद लेकर आते थे।

वे जानते थे कि वे अपने ही अख़बार में जा रहे हैं, जहाँ उनका स्वागत होगा, उनकी बात सुनी जायेगी और किसी न किसी तरह उनकी समस्या का समाधान किया जायेगा। यही कारण था कि हर दिन दफ़्तर में लोगों की भीड़ उमड़ आती थी। अक्सर ही ऐसा होता था कि एक-एक दिन में तीन से चार सौ आगन्तुक वहाँ पहुँचते थे।

वे दोपहर में खाने की छुट्टी के दौरान, अपना काम ख़त्म करने के बाद, शाम को या काम के घण्टों में ही फ़ैक्टरी से निकलकर आते थे – फटेहाल, खरादिये, लुहार, मैकेनिक, बढ़ई, राजगीर, सज्जाकार, तेल में सने कपड़े पहने मज़दूर, पेण्ट, तेल, तम्बाकू और मेहनत-मशक्कत के कारण पसीने की गन्ध से सराबोर। ये सभी मज़दूरों के अख़बार के सम्पादकीय कार्यालय में आते थे और सबको जोश दिलाने वाले शब्द सुनने को मिलते थे। अख़बार में छपने वाले लेख मज़दूरों की दृढ़ लेकिन दो टूक भाषा में अनगढ़ तरीक़े से किसी न किसी कारख़ाने में काम की स्थितियों के बारे में बताते थे और इससे पूरी फ़ैक्टरी में ख़तरे की घण्टी बज उठती और सम्पादकीय कार्यालय में और भी नये आगन्तुक और मददगार पहुँचने लगते।

अक्सर कोई धोबी या रसोइया, कोई लुहार या अकुशल मज़दूर सिर्फ़ अपनी तकलीफ़ें "अख़बार को बताने" के लिए आते थे। और तब अख़बार के कार्यकर्ता या स्वयं सचिव उस मज़दूर के पास बैठ जातीं और उनके अपने शब्दों में उनकी आपबीती दर्ज करतीं।

जब औरतें आतीं तो नताशा को ख़ास तौर पर ख़ुशी होती। पत्र या अपने जीवन की कहानी बयान करने वाली हर महिला मज़दूर में नताशा विशेष दिलचस्पी लेतीं।

पूँजीवादी दुनिया में मज़दूरों के कष्टों और उनके गुस्से की असंख्य कहानियाँ थीं और अख़बार उसके एक छोटे हिस्से को ही छाप पाता था।

इसके अलावा आने वालों में हड़ताल-तोड़क भी होते थे जिन्होंने संघर्ष में अपने भाइयों के साथ ग़द्दारी की थी और पूँजी के पाले में चले गये थे और *प्रावदा* में उनकी निन्दा की जाती थी।

उन समय जो मज़दूर संगठित थे वे ऐसे ग़द्दारों का कठोरता से बहिष्कार करते थे और उन्होंने यह नियम बना रखा था कि अपनी ग़द्दारी के लिए पश्चाताप करने वाले हड़ताल-तोड़कों को मज़दूरों के अख़बार *प्रावदा* के पन्नों पर सार्वजनिक रूप से माफ़ी माँगनी होगी।

कनसुनवे, चुगलख़ोर, जी-हुज़ूरिये, मालिकों के तलवे चाटने वाले, वे सभी जिन्हें *प्रावदा* में कभी बख़्शा नहीं जाता था, सम्पादकीय कार्यालय में खण्डन छपवाने, माफ़ीनामा छपवाने या "बीती बातों को भुलाकर" मज़दूर बिरादरी में शामिल करने का अनुरोध लेकर आते थे। कई बार इस तरह का पत्र प्रकाशित करने से अख़बार के इनकार करने का मतलब होता था कि वे किसी भी फ़ैक्टरी में काम करने लायक नहीं रह जाते थे और वास्तव में कोढ़ियों की तरह समाज से बहिष्कृत हो जाते थे।

अख़बार के पन्ने छोटे थे और मज़दूरों के जीवन, उनके काम की परिस्थितियों और उनके संघर्ष की सामग्रियाँ-पाण्डुलिपियाँ अनगिनत थीं और इसलिए पछतावे के पत्रों को अख़बार में मामूली-सी जगह ही दी जा सकती थी। लेकिन इस तरह के पत्रों का ढेर बढ़ता गया। और कई बार अपने पत्र के छपने का इन्तज़ार करते-करते थक जाने वाला हड़ताल तोड़क, आँखों में आँसू लिये सचिव के पास आता और भविष्य में ईमानदारी से पेश आने और कॉमरेडों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का वादा करते हुए अपने पत्र को जल्द से जल्द छापने की गुज़ारिश करता। नताशा सम्पादकों की कोठरी में जातीं और उनसे आग्रह करतीं कि इस 'हड़ताल भेदी' का पत्र खूँटी में टँगे पत्रों की ढेर से निकालकर अपनी बारी आने से पहले ही छाप दें। अपने कमरे में वापस जाते हुए दरवाज़े पर खड़ी होकर वह कहतीं, 'मैंने इस आदमी से वायदा किया है कि कल ज़रूर छप जायेगा'। अख़बार के उनके सहकर्मी उन पर तंज करते हुए उन्हें 'हड़ताल तोड़कों की अम्मा' और सचिव के उनके कार्यालय को 'पश्चाताप गृह' कहते थे।

लोगों की यह बाढ़ नताशा के छोटे-से कमरे से होकर गुज़रती। वह हर आनेवाले की बात अत्यन्त सावधानी, सहानुभूति और गर्मजोशी से सुनतीं। वे हर मज़दूर के साथ बहुत स्नेह और दोस्ताना ढंग से बात करतीं, और *प्रावदा* और मज़दूरों की पार्टी के प्रति उसकी सहानुभूति जगाने की कोशिश करतीं।

कभी-कभी अपनी फ़ैक्टरी के बारे में किसी मज़दूर का लेख सम्पादकीय कार्यालय में पड़ा रह जाता। जगह की कमी और सामग्री के अम्बार की वजह से इस तरह की देरी हो ही जाती थी। लेकिन जब लेखक इस आशंका से कि शायद लापरवाही के कारण उसका लेख नहीं छप रहा है, पूछताछ करने के लिए आता तो नताशा उसके साथ बहुत ही हमदर्दी से पेश आतीं और सम्पादकों के पास जाकर उनसे प्रकाशन में तेज़ी लाने का आग्रह करतीं।

उनके कामों में एक हिस्सा ऐसा था जो बहुत कठिन और अरुचिकर था। उन दिनों ज़ारशाही का विरोध करने वाले हर लेख के प्रकाशन के बाद *प्रावदा* पर जुर्माना लगाया जाता था, सम्पादकों को गिरफ़्तार किया जाता था और आख़िर में अख़बार को दबाया जाता था।

जुर्माना भरने के लिए पर्याप्त कोष नहीं होता था। और जुर्माना न भरने का मतलब था सम्पादक को तीन महीने की जेल। अगर वास्तव में सम्पादक का काम करने वाला पार्टी कॉमरेड हर बार जेल जाने लगता तो पार्टी में पर्याप्त सम्पादक ही नहीं बचते। ऊपर से हमारे सबसे अच्छे सम्पादक विदेशों में रहने को मजबूर थे।

अख़बार को बन्द होने से बचाने के लिए असली सम्पादक को बचाने के लिए मज़दूर उनके स्थानापन्न के तौर पर अपनी सेवाएँ हाज़िर करते। अख़बार में उनका नाम दिया जाता था जबकि सम्पादन का काम दूसरे लोग करते थे। मेहनतकश वर्ग के पक्ष में छपा कोई साहसिक लेख उन्हें जेल भिजवा देता था।

नताशा अक्सर इन काल्पनिक सम्पादकों से बातचीत करतीं। उनमें से सभी पूरी तरह वर्ग सचेत नहीं थे या वे अपने जेल जाने का कारण ठीक-ठीक नहीं समझते थे। उनमें से कुछ तो महज़ इसलिए आते थे कि वे बेरोज़गार थे और उनका दूसरा कोई ठिकाना नहीं था और हम उन्हें पच्चीस-तीस रूबल मासिक देते थे और जब वे जेल में रहते उस दौरान इससे भी कुछ अधिक।

बेशक इनमें से कुछ लोग विचलित हो जाते थे। नताशा अक्सर उनसे बात करतीं और उन्हें एक मज़दूर अख़बार की अहमियत समझातीं। बेशक, किसी को यह बताना कि : "हम लेख लिखेंगे और आप उसके लिए जेल जाकर हम पर मेहरबानी करेंगे।" सुखद नहीं होता था। मज़दूर अख़बार के लक्ष्य के प्रति उन्हें बड़ी हमदर्दी के साथ प्रेरणा देने की ज़रूरत होती थी। उन पर नैतिक प्रभाव डालना ज़रूरी था ताकि वे जेल जाने का अप्रिय काम करने के लिए, तैयार हो सकें। उनमें से कुछ को लम्बी क़ैद की सजा भी झेलनी पड़ती थी। नताशा ने यह दुष्कर काम कई महीने तक किया।

उन दिनों मेहनतकश जनता पर *प्रावदा* का ज़बरदस्त प्रभाव था। उसने बोल्शेविक पाठकों की पूरी एक पीढ़ी को प्रशिक्षित किया जिन्होंने 1917 की क्रान्ति की शुरुआत में एक ठोस समूह का रूप धारण कर लिया था, वे एक भावना से ओतप्रोत थे और एक फौलादी अनुशासन से आपस में जुड़े हुए थे। बहुत-से कामरेड *प्रावदा* के काम में हिस्सा लिया करते थे। लेकिन नताशा का ओहदा ही इन सभी कामों की जान था। मेहनतकशों और क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं के बीच काम करते हुए वे आन्दोलन से पहली बार जुड़ने वाले मज़दूर समूहों का बड़ी सावधानीपूर्वक जायज़ा लेतीं और अख़बार में उनका पद उन्हें इन मज़दूरों के साथ सीधा सम्पर्क करने और उनकी चेतना को बोल्शेविक धारा की तरफ़ मोड़ने के अनेक अवसर देता था।

(अगले अंक में जारी)

गोर्की के जन्मदिवस (28 मार्च) के अवसर पर

एक सच्चा सर्वहारा लेखक – मक्सिम गोर्की

दुनिया में ऐसे लेखकों की कमी नहीं, जिन्हें पढ़ाई-लिखाई का मौक़ा मिला, पुस्तकालय मिला, शान्त वातावरण मिला, जिसमें उन्होंने अपनी लेखनी की धार तेज़ की। लेकिन बिरले ही ऐसे लोग होंगे जो समाज के रसातल से उठकर आम-जन के सच्चे लेखक बने। मक्सिम गोर्की ऐसे ही लेखक थे।

29 मार्च 1868 को रूस के वोल्गा नदी के किनारे एक बस्ती में मक्सिम गोर्की का जन्म हुआ। सात वर्ष की उम्र में ही अनाथ हो जाने वाले गोर्की को बहुत जल्दी ही इस सच्चाई का साक्षात्कार हुआ कि ज़िन्दगी एक जद्दोजहद का नाम है। समाज के सबसे ग़रीब लोगों की गन्दी बस्तियों में पल-बढ़कर वह सयाने हुए। बचपन से ही पेट भरने के लिए उन्होंने पावरोटी बनाने के कारख़ाने, नमक बनाने के कारख़ाने (नमकसार) में काम करने से लेकर गोदी मज़दूर, रसोइया, अर्दली, कुली, माली, सड़क कूटने वाले मज़दूर तक का काम किया। समाज के मेहनत करने वाले लोगों, ग़रीब आवारा लोगों, गन्दी बस्तियों के निवासियों के बीच जीते हुए उन्होंने दुनिया की सबसे बड़ी किताब – ज़िन्दगी की किताब से तालीम हासिल की। उन्होंने स्कूल का मुँह तक नहीं देखा था, लेकिन पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे कमरतोड़ मेहनत के बाद भी उन्होंने किसी न किसी को अपना गुरु बनाकर ज्ञान प्राप्त किया। कुछ समय तक उन्होंने महान रूसी लेखक व्लादीमिर कोरोलेंको से लेखन कला सीखी और बहुत जल्दी ही रूस के एक बड़े लेखक बन गये।

पुराने रूसी समाज की कूपमण्डूकता, निरंकुशता और सम्पत्ति सम्बन्धों की निर्ममता ने युवा लेखक अलेक्सेई मक्सिमोविच को इतनी तल्ख़ी से भर दिया था कि उन्होंने अपना नाम "गोर्की" रख लिया, जिसका अर्थ है तल्ख़ या कड़वाहट से भरा। लेकिन उनकी तल्ख़ी दिशाहीन नहीं थी। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार मिखाईल शोलोखोव ने उनके बारे में लिखा है – "गोर्की उन लोगों को प्यार करते थे, जो मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्ष करते थे और अपनी प्रचण्ड प्रकृति की पूरी शक्ति से शोषकों, दुकानदारों और निम्न पूँजीपतियों से नफ़रत करते थे, जो प्रान्तीय रूस के निश्चल दलदल में ऊँघते रहते थे...उनकी पुस्तकों ने रूसी सर्वहारा को ज़ारशाही के ख़िलाफ़ लड़ना सिखाया।"

गोर्की के शुरुआती उपन्यासों 'फ़ोमा गोर्देयेव' और 'वे तीन' के केन्द्रीय चरित्र फ़ोमा और इल्या लुनेव ऐसे व्यक्ति हैं, जो निजी सम्पत्ति पर आधारित समाज के तौर-तरीक़ों को स्वीकारने से इंकार कर देते हैं। लेकिन उनके वास्तविक नायक बीसवीं सदी के आरम्भ में सामने आते हैं, जब रूसी समाज करवट बदल रहा था। 'माँ' उपन्यास ने क्रान्तिकारी सर्वहारा के रूप में साहित्य को एक नया नायक दिया।

गोर्की की बहुत-सी कृतियों में क्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है लेकिन आबादी के सबसे निचले तलों में भी गोर्की विचारों के उफान को, छिपी हुई मानवीय शक्तियों को खोज निकालते हैं। उनके आत्मकथात्मक उपन्यासत्रयी का केन्द्रीय पात्र अपने असंख्य अनुभवों के दौरान इन्हीं उफनते विचारों और छिपी हुई शक्तियों का संचय करता है। उसका चरित्र रूसी यथार्थ में जड़ जमायी हुई बुराइयों तथा सोचने के आम तौर पर व्याप्त ढर्रे के विरुद्ध बग़ावती तेवर अपनाकर विकसित होता है।

गोर्की के समकालीन तोलस्तोय, चेख़व, शोलोख़ोव, सभी उनकी प्रतिभा के उत्कट प्रशंसक थे। रोम्याँ रोलाँ और एच. जी. वेल्स ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। यूरोप और अमेरिका के उन लेखकों ने भी उनकी प्रतिभा का लोहा माना था और उनकी प्रशंसा की थी, जो मार्क्सवादी नहीं थे। रोम्याँ रोलाँ ने स्वीकार किया था कि गोर्की मानवता की अमूल्य धरोहर हैं।

गोर्की ने अपने जीवन और लेखन से सिद्ध कर दिया कि दर्शन और साहित्य विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में पढ़े-लिखे विद्वानों की बपौती नहीं है बल्कि सच्चा साहित्य आम जनता के जीवन और लड़ाई में शामिल होकर ही लिखा जा सकता है। उन्होंने अपने अनुभव से यह जाना कि अपढ़, अज्ञानी कहे जाने वाले लोग ही पूरी दुनिया के वैभव के असली हक़दार हैं। आज एक बार फिर साहित्य आम जन से दूर होकर महफ़िलों, गोष्ठियों यहाँ तक कि सिर्फ़ लिखने वालों तक सीमित होकर रह गया है। आज लेखक एक बार फिर समाज से विमुख होकर साहित्य को आम लोगों की ज़िन्दगी की चौहद्दी से बाहर कर रहा है।

पिछले लगभग 15 वर्षों के भीतर जो पीढ़ी समझदार होकर विश्व साहित्य में दिलचस्पी लेने लायक हुई है वह गोर्की के कृतित्व की क्लासिकी गहराई और उनकी महानता से लगभग अपरिचित है। मक्सिम गोर्की का विराट रचना संसार था, लेकिन पूरी दुनिया के साहित्य प्रेमियों का एक बड़ा हिस्सा आज भी उससे अनजान है। उनके कई महान उपन्यास, कहानियाँ, विचारोत्तेजक निबन्ध तो अंग्रेज़ी में भी उपलब्ध नहीं हैं। इस मायने में हिन्दी के पाठक गोर्की के साहित्य से और भी अधिक वंचित रहे हैं। हिन्दी में तो गोर्की के साहित्य का बहुत छोटा हिस्सा ही लोगों के सामने आ सका है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'एक फ़ालतू आदमी का जीवन' और 'मत्वेई कोझेम्याकिन का जीवन' आज तक हिन्दी में अनूदित नहीं हुए हैं। उनका बहुश्रुत चार खण्डों वाला अन्तिम विराट उपन्यास 'क्लिम सामगिन की ज़िन्दगी' का तो अंग्रेज़ी में भी अनुवाद नहीं हुआ है।

इधर आम तौर पर साहित्य में जिन चीज़ों का बाज़ार निर्मित हुआ है उसमें गोर्की, शोलोख़ोव जैसे लेखकों का साहित्य वैसे भी समाज-बहिष्कृत है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से अनभिज्ञता और वैचारिक पूर्वाग्रहों के चलते गोर्की की कालजयी महानता से आज नये पाठक लगभग अपरिचित हैं। इस अनमोल विरासत को पाठकों को उपलब्ध कराने की चुनौती को स्वीकारना होगा। यह हमारे साहित्य और समाज दोनों को नयी ऊष्मा से भर देगा।

– नमिता

भगतसिंह
के शहादत दिवस (23 मार्च) के अवसर पर

"समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनियाभर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकनेभर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं। यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।"

"क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ़ एक ही अर्थ हो सकता है – जनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में यही है 'क्रान्ति', बाक़ी सभी विद्रोह तो सिर्फ़ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूँजीवादी सड़ान्ध को ही आगे बढ़ाते हैं। किसी भी हद तक लोगों से या उनके उद्देश्यों से जतायी हमदर्दी जनता से वास्तविकता नहीं छिपा सकती, लोग छल को पहचानते हैं। भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों को – भारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जोकि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसकी जड़ें शोषण पर आधारित हैं – आगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते। बुराइयाँ, एक स्वार्थी समूह की तरह, एक-दूसरे का स्थान लेने के लिए तैयार हैं। साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज़ इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती।"

बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ

– वर्ल्ड बैंक के अनुसार मौजूदा संकट 2009 में 5 करोड़ 30 लाख और लोगों को 2 अमेरिकी डॉलर की रोजाना आमदनी से भी कम, यानी गरीबी में धकेल देगा। इसकी वजह से लोगों को अपनी आजीविका के साधन बेचने पड़ सकते हैं, अपने बच्चों की पढ़ाई छुड़वानी पड़ सकती है, और वे कुपोषण का शिकार हो सकते हैं।

– वित्तीय संकट का नतीजा 2009 से 2015 के बीच औसतन 2 लाख से लेकर 4 लाख नवजात शिशुओं की अतिरिक्त मौत के रूप में सामने आने का अनुमान है। और अगर संकट जारी रहा तो कुल मिलाकर 14 लाख से लेकर 28 लाख शिशुओं के असमय मरने का अनुमान है। सकल घरेलू उत्पाद में एक इकाई की कमी होने का नतीजा लड़कियों के लिए 1,000 में से 7.4 प्रतिशत औसत मृत्युदर, जबकि लड़कों के लिए 1,000 में से 1.5 प्रतिशत औसत मृत्युदर होती है।

– विश्व खाद्य कार्यक्रम के मुताबिक दुनिया के कुल भूखे लोगों में से आधे भारत में हैं।

– इसी रिपोर्ट के मुताबिक भारत की 35 प्रतिशत आबादी या लगभग 35 करोड़ लोग खाद्य-सुरक्षा के लिहाज से असुरक्षित हैं, और उन्हें न्यूनतम ऊर्जा जरूरतों का 80 प्रतिशत से भी कम मिल पा रहा है।

– इकोनॉमिक पॉलिसी इंस्टीट्यूट के अनुसार अमेरिका में फरवरी 2008 में हर सात में से एक कर्मचारी यानी लगभग 2 करोड़ 30 लाख लोग बेरोजगार हैं। रोजगारशुदा आबादी का प्रतिशत भी दिसम्बर 2006 के 63.4 प्रतिशत के मुकाबले 60.3 प्रतिशत पर आ गया है।

– यू.एस. जनगणना ब्यूरो के मुताबिक 3 करोड़ 59 लाख अमेरिकी फिलहाल गरीबी रेखा के नीचे रह रहे हैं।

वर्ल्ड सोशलिस्ट वेबसाइट के अनुसार

– कम से कम एक चौथाई अमेरिकी कामगार बेरोजगार हैं, जबकि सरकारी आंकड़े सिर्फ 7 प्रतिशत बता रहे हैं।

– जनवरी 2007 से कर्ज पर लिये घरों को ज़ब्त कर लिये जाने से 20 लाख से ज्यादा अमेरिकी अपने घर खो चुके हैं। रोजाना 12,000 घरों को ज़ब्त किया जा रहा है।

– बैंकों द्वारा कर्ज पर ली गयी संपत्तियों पर कब्जा करने की दर 2007 से 2008 में 129 प्रतिशत बढ़ गयी है।

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख

चुनाव? लुटेरों के गिरोह जुटने लगे हैं! जोड़-तोड़, झूठ-फरेब, धार्मिक उन्माद, नफ़रत, रक्तपात, भ्रष्टाचार से भरपूर भारतीय लोकतंत्र की पंचवर्षीय महानौटंकी का मंच सज रहा है!

असली चुनाव
इस या उस
पूंजीवादी चुनावी पार्टी
के बीच नहीं
बल्कि
इंकलाबी राजनीति
और पूंजीवादी राजनीति
के बीच है।
चुन लो
चुनावी मृगमरीचिका में
जीना है
या
इंकलाब की तैयारी की
कठिन राह पर चलना है?

मालिक लोग आते हैं, जाते है
कभी नीला कुर्ता पहनकर,
कभी सफेद, कभी हरा
तो कभी लाल कुर्ता पहनकर।
महान हैं मालिक लोग
पहले पाँच साल पर आते थे
पर अब तो और भी
जल्दी-जल्दी आते हैं
हमारे द्वार पर याचक बनकर।
मालिक लोग चले जाते हैं
तुम वहीं के वहीं रह जाते हो
आश्वासनों की अफीम चाटते
किस्मत का रोना रोते;
धरम-करम के भरम में जीते।
आगे बढ़ो!
मालिकों के रंग-बिरंगे कुर्ते को नोचकर
उन्हें नंगा करो।
तभी तुम उनकी असलियत जान सकोगे।
तभी तुम्हें इस मायाजाल से मुक्ति मिलेगी।
तभी तुम्हें दिखाई देगा
अपनी मुक्ति का रास्ता।

भेड़ियों, कुत्तों, लकड़बग्घों
और सुअरों के बीच से आखिर
हम किसको चुनें?
ये सभी पूँजीवादी नरभक्षी
राक्षसों के टुकड़खोर पालतू हैं!
यह चुनाव एक धोखा है!
विकल्प क्या है? – संसदीय
राजनीति के भ्रम से निकलो!
क्रान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ो!!

मेहनतकश साथियो! नौजवान दोस्तो!
सोचो!
62 सालों तक
चुनावी मदारियों से
उम्मीदें पालने के बजाय
यदि हमने इंकलाब की राह चुनी होती
तो भगत सिंह के सपनों का भारत
आज एक हकीकत होता।

जनता की कार, जनता पर सवार

टाटा की बहुचर्चित और बहुप्रतीक्षित लखटकिया कार नैनो बाजार में आ गयी है। इस कार को सस्ती ही नहीं बल्कि जनता के लिए बेहद उपयोगी बताकर भी प्रचारित किया गया है। इसे पीपुल्स कार यानी जनता की कार बताया जा रहा है। इस कार को लेकर पूँजीपति वर्ग ही नहीं सरकार भी काफी उत्साहित हैं। नैनो वाकई उत्सुकता पैदा करने वाली कार है। 20 रुपया रोजाना कमाने वाली 80 फीसदी आबादी वाले देश में जनता की कार किसके लिए है, इसकी असली कीमत किससे वसूली जाने वाली है और आखिर यह कार लायी ही क्यों जा रही है? और यह कि इसमें मोदी फैक्टर जुड़ने का मतलब क्या है? आइये देखें कि आखिर एक लाख की कार जनता को देने के पीछे माजरा क्या है?

एक लाख की कार को जनता की कार बताना पहली बात तो सिरे से ही बेवकूफी की बात है। हमारे देश की एक बहुत बड़ी आबादी सुबह से लेकर रात तक दो वक्त की रोटी जुटाने के लिए हाड़तोड़ मेहनत करती है। जिन्दा रहने के लिए बुनियादी चीजें हासिल करने में ही उसके बदन का सारा खून निचुड़ जाता है। अपने बच्चों को अच्छी पढ़ाई-लिखाई करवाना और बीमार होने पर दवा-इलाज करवाना उसके लिए बहुत बड़ी बात है। यह आबादी ज्यादातर अपनी काम की जगह पर बसों में लटककर जाती है। मजदूरी इतनी कम है कि बस का किराया भी इनके बस से बाहर है सो साइकिलों से भी काफी दूर काम करने जाते हैं। दिल्ली में रहने वाले मजदूर फरीदाबाद, गुडगाँव, नोएडा, गाजियाबाद जाते हैं तो इन शहरों के मजदूर दिल्ली में काम करने आते हैं। इस बड़ी आबादी के लिए कार की बात करना एक गन्दे मजाक के सिवाए कुछ नहीं है।

लेकिन असल में यह कार इस 80 फीसदी आबादी के लिए है भी नहीं। इस कार को खरीदने वालों में कुछ तो काफी पैसे वाले होंगे जो महज शौक या क्रेज के लिए यह कार खरीदेंगे। असल में इसे खरीदने वाला सबसे बड़ा तबका मध्य-मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग का वह हिस्सा होगा जो जल्दी से जल्दी अमीरों की कतार में शामिल हो जाने का सपना देखता है। जिस तबके का एक बड़ा सपना अपनी गाड़ी और लग्जरी अपार्टमेंट होना होता है। इसी तबके के लिए यह कार बनायी गयी है ताकि यह तबका खुशहाली के अहसास में जीये और पूँजीपतियों-मालिकों की ज्यादा तन-मन लगाकर सेवा करें। इसे जनता की कार बताना उस नजरिये को सामने लाता है जिसमें बाजार के उपभोक्ता से आगे देखने की कोई जरूरत नहीं होती है। टाटा और तमाम पूँजीपति वर्ग और सरकार के लिए भी यही छोटा सा तबका वाकई "आम जनता" है और इसी की खुशहाली और बेहतरी के लिए ठोस कोशिशें की भी जाती हैं।

नैनो कार का बहुसंख्यक आबादी के लिए न होने और उससे इसका कोई सरोकार न होने के बावजूद इसी बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की टैक्स के रूप में जमा गाढ़ी कमाई के बदौलत इसे तैयार किया गया है। पं. बंगाल में मुख्य कारखाना हटने और गुजरात में लगने के बाद मोदी सरकार ने इसमें विशेष रूचि दिखायी और जनता का करोड़ो रूपया पानी की तरह इसपर बहा दिया। एक अनुमान के मुताबिक 1 लाख की कीमत वाली हरेक नैनो कार पर जनता की गाढ़ी कमाई का 60,000 रूपया लगा है। नैनो संयंत्र के लिए गुजरात सरकार ने टाटा को 0.1 प्रतिशत साधारण ब्याज की दर से पहले चरण के लिए 2,900 करोड़ का भारी-भरकम कर्ज दिया है जिसकी अदायगी बीस वर्षों में करनी है। कम्पनी को कौड़ियों के भाव 1,100 एकड़ जमीन दी गयी है। इसके लिए स्टाम्प ड्यूटी और अन्य कर भी नहीं लिये गये हैं। कम्पनी को 14,000 घनमीटर पानी मुफ्त में उपलब्ध कराया जा रहा है साथ ही संयंत्र में बिजली पहुँचाने का सारा खर्च सरकार वहन करेगी।

यह भी गौर करने वाली बात है कि गुजरात सरकार और टाटा के बीच हुए समझौते को गुप्त रखा गया है। मोदी ने विशेष आदेश देकर नैनो से संबंधित सारी कागजी प्रक्रिया 3 दिन में खत्म करवा दी थी। गुजरात सरकार की इस तत्परता ने पूँजीपतियों को अभिभूत कर दिया है। पिछले दिनों गुजरात में एक कार्यक्रम में देश के तमाम उद्योगपतियों ने मोदी की खूब जयजयकार की। रतन टाटा ने तो यहाँ तक कहा कि जो गुजरात में नहीं है वह मूर्ख है।

दूसरी तरफ आँकड़े बताते हैं कि गुजरात सरकार शिक्षा और स्वास्थ्य पर सरकारी सब्सिडी लगातार घटाती जा रही है। लोगों को बुनियादी सुविधएँ मुहैया कराने में भी गुजरात सरकार का रिकार्ड बहुत खराब है। इसके अलावा देश के पैमाने पर भी स्थिति काफी खराब है। पिछले दिनों जारी संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट में भारत में भुखमरी की समस्या पर चिंता जतायी गयी थी। हमारे देश 70 फीसदी बच्चे अच्छा खाना न मिलने से कुपोषण का शिकार हैं। इन हालातों में एक लाख की कार के लिए सरकारों का चिन्तित होना उनकी प्राथमिकताओं को सामने लाता है।

कारें बढ़ने से आम जनता पर कई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव पड़ेंगे। एक तो सरकार द्वारा कार-निर्माताओं को सब्सिडी देने से जरूरी मदों के लिए राशि में कटौती होना तय है। दूसरे कारों के उत्पादन के साथ फ्लाईओवरों, ओवरब्रिजों आदि का निर्माण करवाना जरूरी होता है। इसपर भी भारी धनराशि खर्च होगी। इसके अलावा सीधे तौर पर सड़कों पर बोझ बढ़ जायेगा। बसों, साइकिलों से काम पर जाने वाली बहुत बड़ी आबादी को ट्रैफिक जाम का सबसे ज्यादा खामियाजा भुगतना पड़ेगा। कारों से होने वाले प्रदूषण में भी कई गुना की वृद्धि हो जाएगी।

नैनो के लिए बेशक मोदी सरकार ने सबसे ज्यादा दिलचस्पी दिखायी हो लेकिन असल में यह पूरे शासक वर्ग की चाहत है कि सस्ती कार बाजार में हो। एक तो इससे खुशहाली का भ्रम पैदा किया जाता है, दूसरे जनता का ध्यान जरूरी बुनियादी चीजों से हटाया जाता है ताकि लोग इसमें उलझे रहें और पूँजीवाद का लूट का चक्र बिना गड़बड़ी के घूमता रहे। साथ ही अपेक्षाकृत कम गरीब आबादी को अपने पाले में लाने का शासक वर्ग का मकसद भी ऐसी चीजों से पूरा होता है।

यह अनायास ही नहीं है कि सस्ती या जनता की कार में सबसे ज्यादा दिलचस्पी पूँजीवाद के संकटमोचक फासीवाद के अवतारों ने दिखलायी है। जर्मनी में भी हिटलर ने बदहाल जनता को सस्ती फोक्सवैगन कार का सपना दिखाकर अपना समर्थक बनाने की कोशिश की थी। पूँजीवाद जैसे-जैसे ज्यादा से ज्यादा लोगों के जीवन को बर्बाद करता जाता है, वैसे-वैसे उसे उलझाने-भरमाने की कोशिशें बढ़ती जाती हैं। सस्ती कार और सस्ता मोबाईल देकर पूँजीवादी व्यवस्था अपनी उम्र बढ़ाने की कोशिश कर रही है। लेकिन इतिहास बताता है कि जनता इन बहकावों में ज्यादा समय तक नहीं रहती है और आखिरकार जिन्दगी का सवाल सब पर भारी पड़ता है और हुक्मरानों के इस तरह के तमाम हथकण्डे धरे के धरे रह जाते हैं।

– कपिल स्वामी

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल पकाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डा. दूधनाथ, सुखविन्दर** ● सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 020** ● सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ